जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १२ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL XII. NO I

Edited by

Prof Hiralal Jain, M A., LL. B
Prof A N Upadhye, M A, D Litt.
B Kamata Prasad Jain, M R A.S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana
Pt Nemi Chandra Jain, Shastri, Sahityaratna.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH BIHAR INDIA

JULY, 1945.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।



१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हों को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण

पण्डित नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री, साहित्यरत्न।

नोट—किन्हीं विशेष कारणों से 'भास्कर' आजकल षाण्मासिक निकल रहा है और वार्षिक मूल्य ३) रुपये है।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल-एल बी, डी फिल

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए, डी लिट्

बाबू कामताप्रसाद जैन, एम आर ए एस, डी एल

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन सिद्धान्त भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २००२

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः



सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १२ | जुलाई, १९४५। आषाढ़, वीर नि० सं० २४७१ | किरण १

जैन धर्म और कला

[ले०—श्रीयुत प्रो० नलिनविलोचन शर्मा एम० ए०, आरा]

किसी भी देश या धर्म के प्रति विदेशी या परधर्मावलम्बी के हृदय में तभी श्रद्धा का भाव आ सकता है जब वह एक उन्नत साहित्य और उत्कृष्ट कला का दावा रखता हो। जैन धर्म इन दोनों दृष्टियों से जैनेतर विचारकों और विवेचकों के द्वारा समादृत हुआ है। सच पूछिए तो जो धर्म लोक कल्याण या दार्शनिक गरिमा में किसी भी धर्म की बराबरी कर सकता है उसकी सांस्कृतिक महत्ता स्वाभाविक ही थी।

मुझे यहां सिर्फ जैन धर्म तथा उससे सम्बद्ध स्थापत्य कला (architecture) मूर्त्तिकला और चित्रकला के उत्कर्ष के बारे में विचार करना अभिप्रेत है।

आप को यह प्रारम्भ में ही समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की तरह आप जैन शैली की कला, बौद्ध शैली की कला या हिन्दू शैली की कला—कोई ऐसा वर्गीकरण नहीं कर सकते। भारतीय कला के अध्ययन के प्रारम्भिक काल में विद्वानों ने यह भूल की थी। उनके इस भ्रम का निराकरण दूसरे विद्वानों ने किया। यह भूल जैन मतावलम्बी या जैनधर्म के पक्षपाती विद्वानों ने की हो ऐसी बात नहीं। भारतीय कला का इस प्रकार का साम्प्रदायिक वर्गीकरण सब से पहले एक निष्पन्न पाश्चात्य कला ममन फर्गुसन ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक History of Indian architecture में किया था।

भारतीय कला के इस भ्रामक वर्गीकरण का खंडन बुलर ने Epigraphica Indica में एक लेख द्वारा किया है। उनके इस मत की पुष्टि विंसेंटस्मिथ ने अपनी पुस्तक The Jaina Stupa and other antiquities of Mathura में और आनन्दकुमार स्वामी ने History of Indian and Indonesian Art में की है।

इन तीनों विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि भारतीय कला एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में जीवित रही है। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों ने अपने युग और देश की कला को आवश्यकतानुसार अपनाया। इन सभी धर्मों ने कला के क्षेत्र में प्रतीकों और रूढ़ि-

गत रीतियों को एक ही स्रोत से लिया। चाहे स्तूप हो या पवित्र वृक्ष या चक्र—ये सभी धार्मिक या कलात्मक तत्त्वों के रूप में सब के लिये सहज-सुलभ थे। आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में 'यद्यपि प्राय. समस्त भारतीय कला धार्मिक है फिर भी यह कहना गलत है कि उनकी शैलियां संप्रदायों पर निर्भर थीं।'

इस सत्य को ध्यान में नहीं रखने के कारण ही जायसवाल जैसे विद्वान् ने भी जैन धर्म से सम्बद्ध वास्तु कला के बारे में एक बड़ी भ्रामक बात कह दी है। जैन और बौद्ध मंदिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्तियों के बारे में अपने 'अंधकारयुगीन भारत' मे वे कहते है—'बौद्ध तथा जैन वास्तु में इस प्रकार की मूर्तियों का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि वे ब्राह्मण सम्प्रदाय के वास्तु मे ही ली गई थीं और उन्हीं की नक़ल पर केवल वास्तु की शोभा और अलंकरण के लिये बनाई जाती थीं।' जायसवाल महोदय यह भूल जाते है कि कला के इन प्रतीकों और रूढ़ियों पर जैनियों तथा बौद्धों का उतना ही अधिकार था जितना ब्राह्मण सम्प्रदाय या हिंदू धर्म का, क्योंकि इन तीनों धर्मों से सम्बद्ध कलाओ का सीधा और स्वतंत्र संबंध भारतीय कला से था। भारतीय कला की ये तीनों शाखाएं परस्पर निर्भर होने के बदले समानाश्रयी थी।

जहां तक स्थापत्य-कला (Architecture) का प्रश्न है, जैनियों की बराबरी शायद ही कोई दूसरा भारतीय धर्म कर सके। जिस तरह बौद्ध धर्म से संबद्ध अजन्ता के मण्डोदक चित्र (fresoces) विश्व की चित्र-कला में अपना सानी नहीं रखते उसी तरह स्थापत्य में जैनियों का स्थान अद्वितीय है। फ्रेंच कलाविद् ग्यूरिनो ने अपनी पुस्तक 'ला रेलिजन द जैन' में ठीक ही कहा है कि 'विशेषत' स्थापत्य कला के क्षेत्र में जैनियों ने ऐसी पूर्णता प्राप्त कर ली है कि शायद ही कोई उनकी बराबरी कर सके।' दूसरे धर्मों के विशाल और सुन्दर मन्दिर पाए जाते हैं लेकिन जैनियों ने 'मंदिरों के नगरों' को प्रतिष्ठित कर संसार को चकित कर दिया है। शत्रुंजय के शिखर पर जो मंदिरों का नगर है वह विस्मय की चीज़ है।

जैनियों की स्थापत्य-कला के सबसे प्राचीन अवशेष उड़िस्सा के उदयगिरि और खण्डगिरि पर्वतों की और जूनागढ़ के गिरनार पर्वत की गुफाओ में मिलते हैं। मूर्तिकला के प्राचीनतम अवशेष मथुरा के कंकाली-टिला और दूसरे स्तूपों में मिलते है। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओ के बारे में फर्गुसन का कहना है कि उनकी विचित्रता और प्राचीनता तथा उनमें पाई जाने वाली मूर्तियों के आकार-प्रकार के कारण उनका महत्त्व असाधारण है।

उदयगिरि की हाथी गुफा खारवेल के शिला-लेख के कारण ही महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य कला की दृष्टि से रानि और गणेश गुफाएं उल्लेखनीय है। इनमें पार्श्व का जीवन वृत्त बड़ी कुशलता से खचित है।

यहां की मूर्तियों में भी, मथुरा की तरह, यूनानी और भारतीय वेश-भूषा का मिश्रण है। कारण स्पष्ट है। भारत और यूनान का संपर्क बहुत पुराना है और पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही है। आगे चलकर बौद्ध धर्म से संबद्ध गांधार मूर्ति कला में भी यही बात

पाई जाती है, लेकिन जीवन का जो उल्लास और हास यहां पाया जाता है वह गांधार की सयन कला में दुर्लभ है।

मथुरा के कंकाली या जैनो शिलास्तूप की कला ईसा के पूर्व पहली शताब्दि से लेकर ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दियों तक विकासोन्मुख रही होगी। चूंकि मथुरा अमरावती, सारनाथ और गांधार के बीचोबीच अवस्थित है इसलिये यहां की कला में परंपरागत, भारतीय कला तथा गांधार की यूनान से प्रभावित कला के आदर्शों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

भारतीय मूर्ति कला पर यूनानी कला का प्रभाव हितकर ही हुआ। जिस तरह आधुनिक काल में भारतीय कला की अभिव्यंजनात्मकता (Expressionism) को अपना कर इङ्गलैण्ड के श्रेष्ठ मूर्तिकार एप्स्टाइन तथा फ्रांस के प्रसिद्ध चित्रकार मातिसे प्रभृति ने अपने नए नए प्रयोगों से संसार को चमत्कृत कर दिया है उसी तरह भारतीय कला पर यूनान का प्रभाव स्पृहणीय हुआ। पाश्चात्य कला 'स्पष्ट प्रतिबिम्बवत्' यथार्थता (Photographic representation) को ही कला का चरम उत्कर्ष मानता आई है। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि में कला की पराकाष्ठा अभिव्यंजना (Expression) में ही निहित है। इसका फल यह हुआ कि पाश्चात्य देशों की कला के इतिहास में एकाधिक बार जड़ता के युग आ गए हैं। अभिव्यंजना रहित यथार्थता में जड़ता का आना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर भारतीय कला भी विशुद्ध अभिव्यंजना के कारण प्रभाव शून्य हो जाया करती थी। इसलिए जब कला इन दोनों आदर्शों का समन्वय हुआ है तो उसका परिणाम अच्छा ही हुआ है।

मथुरा गांधार शैली में यूनान के शारीरिक स्वास्थ्य सौन्दर्य के आदर्श को स्वीकार कर लेने से एक प्रभावपूर्ण सन्तुलन आ गया है।

कला की दृष्टि से मथुरा के आयाग पट, जैन-स्तूप और तोरण उल्लेखनीय हैं।

आयाग पट पर खचित जो नारी चित्रों में विन्सेंट स्मिथ महोदय ने अश्लीलता का आभास पाया है। कला में अश्लीलता प्रश्न बहुत टेढ़ा है। इस विषय पर यहां कुछ विचार करने का अवसर नहीं है। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि पश्चिम में हो या पूर्व में धार्मिक कला ने इस विषय में अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया है। यह आश्चर्य की बात है कि विन्सेंट स्मिथ महोदय भारतीय धार्मिक कला में अश्लीलता का दोष निकालें। असल में स्मिथ कभी भी भारतीय कला के आदर्शों को ठीक से हृदयंगम नहीं कर पाए थे। भारतीय कला पर जब उन्होंने पहले पहल ग्रन्थ बनाई थी तो उन्होंने एक शब्द भी उसकी प्रशंसा में नहीं कहा था। बाद में हैवेल प्रभृति की भारतीय कला की विशेषताओं की व्याख्या के बाद उन्हें अपने मत को पूर्ण रूप से बदलना पड़ा था।

अस्तु, मनोरंजन ने जहां मथुरा और उड़ीसा के शिल्प में नारियों की मूर्तियों गति और विलास को चित्रण करती है, वहीं भगवान बुद्ध की तरह मर्यादित निर्ग्रंथ का मूर्तियां दर्शन के दृष्टि से पूर्ण वीतराग की सफल अभिव्यंजना करती हैं।

जैन स्थापत्य के अपेक्षाकृत अर्वाचीन उदाहरण आबू, पारसनाथ, राजपुर, पावापुरी आदि तीर्थों में और राणा कुंभा के समय के अवशेषों में पाए जाते हैं।

दक्षिण में जहां बौद्ध धर्म के स्थापत्य के इने गिने अवशेष हैं वहां जैन धर्म के प्राचीन स्थापत्य के बहुसंख्य उदाहरण आज भी प्राप्य हैं।

इनमें प्रमुख हैं एल्लोरा की इन्द्र सभा और जगन्नाथ सभा। इनकी खुदाई बादामी या राष्ट्रकूट शाखा के चालुक्य राजाओं के तत्त्वावधान में हुई होगी। पाण्ड्य प्रदेश में कलुगमलइ का अद्भुत मंदिर है। वह भी विद्वानों के मत में मूलतः जैनधर्म का ही रहा होगा।

बौद्ध और हिन्दू मंदिरों की तरह जैन मंदिर-स्थापत्य के भी दो प्रधान वास्तु-प्रतीक हैं—स्तूपाकार उपरिभाग और शिखर। जैन स्थापत्य में इनका निर्माण जिस सफलता के साथ हुआ है वह आश्चर्यजनक है।

अब, संक्षेप में, जैनधर्म से संबद्ध चित्र कला का निदर्शन करने का प्रयत्न किया जायगा।

सब से प्राचीन जैन चित्र मद्रास में तांजोर के पास पुदूकोटा रियासत के सित्तन्नवासल के गुफा मंदिर की दीवारों पर पाए जाते हैं। इनका समय ६२५—६५० ईस्वी सन् है।

भारतीय चित्रकला के सब से प्राचीन उदाहरण सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा की दीवारों पर मिलते हैं। इन प्रागैतिहासिक चित्रों की कला उसी तरह की है जिस तरह की तत्कालीन स्पेन, मेक्सिको, क्रीट आदि की कला में पाई जाती है।

इसके बाद भारतीय कला के प्राचीन और साथ ही साथ उत्कृष्ट उदाहरण हैदराबाद के अजन्ता और एलोरा, ग्वालियर के बाघ, बंबई के बादामी और मद्रास के सित्तन्नवासल की गुफाओं में ही मिलते हैं।

अजन्ता-एलोरा की चित्र-कला के बारे में प्रसिद्ध ही है कि इनका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है। लेकिन सित्तन्नवासल के जैन धर्म से सम्बद्ध भित्तिचित्रों या मण्डोदक चित्रों की कला भी उच्च कोटि की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अजंता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों के साथ सित्तन्नवासल के चित्रों की तुलना करना अन्याय होगा, किन्तु ये चित्र भी भारतीय चित्र कला के इतिहास में गौरव का स्थान पाते हैं। इनकी रचना शैली बाघ और अजंता के भित्ति-चित्रों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इसका कारण यही है कि ये सभी शाखाएँ एक ही स्कन्ध, भारतीय कला के स्कन्ध से निकली थीं। जैन स्थापत्य की चर्चा करते हुए मैंने इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर दिया था।

सित्तन्नवासल के बाद जैन धर्म से सम्बद्ध चित्रकला के उदाहरण भारतीय इतिहास के उत्तर मध्यकाल अर्थात् दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दि से लेकर १५ वीं शताब्दि तक मिलते हैं।

इसके पहले चित्रकला लुप्त हो गई हो ऐसी बात नहीं। लेकिन प्राचीन भारत के जो भी अवशेष हमें मिल जाते हैं उन्हें गनीमत समझना चाहिए। मागधी प्राकृत की सुरसुन्दरी कहा प्रभृति जैन पुस्तकों में चित्र कला के सातत्य के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं यद्यपि अवशेष कुछ बाद के ही उपलब्ध है।

सच पूछिए तो मध्यकालीन चित्रकला के अवशेषों के लिए हम मुख्यत जैन भाण्डारों के ही आभारी हैं। पहली बात तो यह है कि इस काल में प्राय एक हजार वर्ष तक जैनधर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बडे हिस्से में फैला हुआ था। दूसरा कारण यह भी है कि धनी मानी जैनियों ने बहुत बड़ी संख्या म धार्मिक ग्रन्थ ताड़ पत्र पर लिखित और चित्रित (Illuminated) करा कर बटवाए थे।

ये जैन चित्र केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही है। इसका कारण स्पष्ट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तत्त्वावधान में अर्हत और तीर्थकरों के चित्रों को अलङ्कृत करने का अवसर चित्रकारों को पर्याप्त मात्रा में मिल सकता था लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं।

निशीथचूर्णि, अगसूत्र, त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथचरित्र, कथारत्नसागर, समरणोयसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र, सावगपडिक्कमणसुत्तचुन्नी इत्यादि वे प्रमुख ग्रन्थ है जिनकी चित्रित प्रतिया आज भी उपलब्ध हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य का कतिपयों कृतियों में भी जैन चित्रकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। करणानुयोग सम्बन्धी त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों म चित्रकला के सु दर नमूने है।

चूंकि पहले पहल इस काल के प्रतिनिधि स्वरूप चित्र जैन धर्म मे ही सम्बद्ध पाए गए इसलिए इस काल की चित्र कला की शैली का नामकरण जैन शैली किया गया।

इस नामकरण को क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता इसका एक प्रमुख कारण मैं आप को पहले ही बता चुका हूँ।

एक दूसरा कारण भी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय चित्रकला के इतिहास के शोध के सिलसिले में कुछ दिनों के बाद ऐसे बहुत सारे चित्रित अजैन ग्रथ मिले जिनकी टेकनीक पूर्वोक्त चित्रित जैन ग्रथों से मिलती जुलती थी—उदाहरणार्थ वसतविलास, बालगोपालस्तुति, गीत गोविन्द, दुर्गासप्तशती, रति रहस्य इत्यादि।

इस पर श्री हीरालाल चमनलाल मेहता ने जो भारतीय कला के मर्मज्ञ विद्वान और आलोचक हैं—इस काल की शैली का नामकरण गुजरात शैली किया।

लेकिन कालान्तर में इस प्रकार के बहुत से ग्रथ मिले जिनका क्षेत्र गुजरात से बाहर था—जैसे राजपूताना, मालवा, जौनपुर, पजाब इत्यादि। इसलिये आनन्द कुमार स्वामी ने इसका नामकरण पश्चिम भारत शैली किया है यद्यपि अब तो ऐसे ग्रथ दक्षिण में भी मिले हैं और इस नाम में भी अव्याप्ति दोष आ जाता है।

यहाँ हमें इस समय की कला की विशेषताओं के संक्षिप्त परिचय से ही संतोष करना पड़ेगा।

मुझे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ था कि इस शैली के महत्त्व को रायकृष्णदास जैसा कला का पारखी बिलकुल नहीं समझ पाया है। अपनी 'भारत की चित्रकला' में उन्होंने लिखा है कि इस शैली में "न सौंदर्य है, न रेखाओं का दम्म-खिम और न कल्पना की उडान"। यह आलोचना कुछ वैसी है जैसी पाश्चात्य विद्वानों की समस्त भारतीय कला के सम्बन्ध में, प्राच्य विद्या के प्रारंभिक काल में, हुई थी। उनके मतानुसार तो अनेक भुजाओं वाली भारतीय मूर्त्तियां कला की श्रेणी में आ ही नहीं सकती थीं। लेकिन उन्होंने पीछे चलकर भारतीय कला की अंतर्निहित वास्तविक आध्यात्मिक विशेषताओं को समझ लिया और वे अपनी गलती स्वीकार करने में पीछे नहीं रहे।

रायकृष्णदास को यह समझना चाहिये कि उपर्युक्त चित्रों में "एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गति वेग है, जिससे डा० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते है" (N. C. Mahta भारतीय चित्रकला)।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये चित्र अजन्ता या सितन्नवासल के चित्रों की तरह रोचक नहीं फिर भी किसी भी सुसंस्कृत मस्तिष्क पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इन चित्रो की सरलता और स्पन्दन शीलता को देखकर एन० सी० मेहता तो यहां तक कहते है कि "यही चित्र शैली हिन्दुस्तान की लोक शैली रही।"*

भंडारा जिले में जैन पुरातत्त्व

[ले०—मुनि श्री कांतिसागर महाराज, साहित्यरत्न]

भास्कर के गताङ्क मे (भा० ११ कि० २) श्री कामता प्रसाद जी जैन ने उपर्युक्त शीर्षक लेख से भंडारा जिले के जैनपुरातत्त्व पर कुछ प्रकाश डालकर इस ओर पुरातत्त्वान्वेषी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसमे शक नही कि भंडारा किसी समय जैन संस्कृति का विशाल केन्द्र अवश्य रहा होगा। इस बात के लिए साक्षी वहाँ प्राप्त होने वाले पुरातनावशेष हैं। इस जिले में भ्रमण करने का मुझे भी अवसर मिला है अतः इस प्रस्तुत भंडारा जिले मे प्राप्त पुरातन जैन अवशेषों का ही उल्लेख करूँगा। आशा है पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज करनेवाले विद्वानों को यह रुचिकर प्रतीत होगा।

जैन कला का मुख उज्ज्वल करने वाले शिल्प स्थापत्य के बहुत से पुरातन भग्नावशेष भंडारा जिले मे प्राप्त होते हैं। जैन धर्म के व्यापक प्रसार के ये प्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं। ये

*यह निबन्ध श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा मे महावीर जयन्ती के अवसर पर सभापति के पद से पढ़ा गया था।

—सम्पादक

अवशेष केवल न इतिहास और कला की दृष्टि से ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास के पृष्ठों के लिए भी महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य हैं। परन्तु खेद की बात है कि यहाँ का पुरातत्त्वानुसंधान आज तक उचित रीति से नहीं हुआ। आज तक यहाँ कोई ऐसा सहृदय नहीं आया जो इन कलात्मक अवशेषों की करुण कहानी सुन इनके उद्धार के लिए कुछ प्रयत्नशील हुआ हो या औरों को इस दिशा में प्रवृत्त किया हो।

नागरा — यह गाँव भंडारा जिले में गोन्दिया जंक्शन से चार मील है। पुरातत्त्व की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का है। यहाँ जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेषों से बना हुआ एक पुरातन शैव मन्दिर है। स्तंभों में कुम्भ कलश और कहीं-कहीं बड़ी बारीकी से जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। जो संभव है किसी के मिटाने से आजकल अस्पष्ट सी हो गयी हैं। मंदिर का तोरण जैनशिल्पशास्त्रानुसार बना हुआ है। वर्षा के दिनों में यहाँ आसपास के खेतों में मूर्तियाँ, सिक्के, ताम्रपत्र तथा तलवार आदि शस्त्र निकलते हैं। यहाँ के मिले हुए गोविन्दचन्द्र के सिक्के मैंने देखे हैं। एक महन्त के तलवार भी मैंने देखी थी जो उनके खेत में से निकली थी। उसी महन्त ने मुझे एक स्थान पर ले जाकर तीन सुन्दर, भव्य शिल्पकलात्मक खड्गासनस्थ दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ बतलाई। इन पर "वि० सं० १२०३ माघ वदि ३ रवि० भट्टारक सिंहसेन" "श० १५४२ चैत्र वदि २ सौमाग्यगेह　　विद्यासोमसेन भट्टारकानां　　प्रणमति" "शकाब्द १८०६ फाल्गुण　　सावरगावमध्ये　　" क्रमशः लेख खुदे हुए हैं। जैन इतिहास की दृष्टि से इन मूर्तियों का महत्त्व है। परिताप की बात तो यह है कि किसी अज्ञानी ने लेखों को कतई मिटा दिया है। सब से प्राचीन मूर्ति का लेख १५ पंक्ति में था पर अब केवल एक पंक्ति अवशिष्ट रह गयी है और वह भी अस्पष्ट। सिवाय शोक के और क्या किया जा सकता है। यदि सम्पूर्ण लेख प्राप्त होता तो न जाने क्या क्या ज्ञातव्य प्रकट होता। *ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उच्च श्रेणी की हैं दर्शनमात्र से चेहरा शान्त रस में झलक उठता है।* मैं तो इनके दर्शन से इतना मुग्ध हो गया कि अश्रुप्रवाह नेत्रों से प्रवाहित होने लगा। भट्टारक विद्यासोमसेन भट्टारक सम्बन्धी दो लेख मेरे संग्रह में हैं। यह संग्रह अभी अप्रकाशित है। ये कारंजा के थे और बड़े उच्च कोटि के विद्वान् थे। "श्रीमद्रायगुरु वसुधराचार्य, महावादीश्वररायवादी, विद्वज्जनसार्वभौम, साभिमानवादीभसिंहाभिनव चै　　" ये आप के विशेषण हैं। आपका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था। संभव है भंडारा जिले में भी आप का आगमन हुआ हो और उस समय यहाँ मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई हो, क्योंकि आपने १०८ प्रतिष्ठाएँ भिन्न भिन्न स्थानों पर करवाई थीं। शक १५४१ सम्बन्धी मेरे अप्रकाशित संग्रह के लेख में इसका निर्देश है। ये तीनों मूर्तियाँ किसी अज्ञानी की अज्ञानता का परिचय दे रही हैं अर्थात् खण्डित हैं, पर सौंदर्य की आभा ज्यों की त्यों सुरक्षित है। मेरे संग्रह में एक लेख सावरगाँव से भी सम्बन्ध रखता है।

महंतजी के पास एक ताम्रपत्र होने का समाचार भी मुझे लोगों से मिला था। पर वे मुझे बतलाने को बिल्कुल तैयार न थे। बहुत कुछ कहने सुनने के बाद बतलाना इस शर्त पर तय हुआ कि मैं उसे दूर से ही देख लूँ; स्पर्श न करूँ। मैंने मंजूर किया। जब मुझे उन्होंने ताम्रपत्र बतलाया तब मुझे जो आनन्द और दुःख हुआ उसे मैं कैसे व्यक्त करूँ। वह ६/६ साइज़ का था और शिरोभाग मे जिनमूर्ति पद्मासन में उत्कीर्णित थी। मैंने बहुत से ताम्रपत्र देखे जिनमे जैन भी सम्मलित हैं पर किसी में जिनमूर्ति उत्कीर्णित नहीं देखी। यह ताम्रपत्र १५ पंक्तियों मे दो पत्रों में विभाजित था मैंने नकल करना प्रारम्भ किया तब उन्होंने साफ इन्कार कर दिया और ताम्रपत्र बन्द कर के उठा ले गये। उनका विश्वास है कि उसमे द्रव्य सम्बन्धी कुछ हकीकत है, अतः लिखने देना तो दूर रहा किसी को दिखलाने से भी इन्कार करते है। मुझे बहुत अफसोस हुआ। जाने ऐसे कितने ताम्रपत्र मंत्र, यन्त्र, द्रव्य विषयक विश्वासो के भाजन बनकर शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण साधन यों ही नष्ट हो रहे हैं। मुझे इसका अनुभव भी हुआ ही है।

उपर्युक्त ताम्रपत्र जैन इतिहास की दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण है। इस पर शक संवत् १०३० उत्कीर्णित है। अन्त मे किसी राजा के हस्ताक्षर हैं जो अस्पष्ट हैं। यदि कोई पुरातत्त्व प्रेमी वहाँ जाकर कुछ दिन रहकर खोज करें और महंतजी को समझा बुझा कर ताम्रपत्र की नकल करें तो बहुत कुछ अन्धकार दूर हो सकता है। वहाँ खण्डहरों की पूरी भरमार है और मुझे वहाँ रहने का बहुत कम अवकाश मिला।

पद्मपुर :—यह ग्राम गोंदिया तहसील मे आमगाँव स्टेशन (जी० आई०.पी०) से दो मील है यह स्थान सातवीं और आठवीं शताब्दियों में बहुत उन्नतावस्था मे था और शिक्षा का विशाल केन्द्र था। संस्कृत साहित्य के चमकीले नक्षत्र कविवर भवभूति यहीं के निवासी थे। बहुत दूर दूर से राजकुमार न्यायशास्त्र का अध्ययन करने को यहाँ आते थे। वहाँ के उपलब्ध कतिपय पुरातन जैन भग्नावशेषो से प्रतीत होता है कि यह नगर जैन संस्कृति की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मुझे तारीख ८-३-४४ को इन अवशेषों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

नगर मे बहुत पुरातन इमारतें दृष्टिगोचर होती हैं जो नगर की पुरातन उन्नति का इतिहास मौनरूप से कह रही हैं। कई स्थान ऐसे भी महत्त्वपूर्ण है जो भारत सरकार द्वारा सुरक्षित नही हैं।

ग्राम से उत्तर मे दो फर्लाङ्ग पर सोनू पटेल के खेत मे कुछ प्राचीन जैन मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं जो कला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

एक विशाल काय पद्मासनस्थ परिकर युक्त भगवान् पार्श्वनाथजी की प्रतिमा कालेपत्थर की बनी हुई है जो दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। दर्शक का मन उसके सौन्दर्य का अनुभव कर आनन्द मे मग्न हो जाता है। प्रतिमा २३ इञ्च है। १३

दृश्य में समरूप बड़े ही आकर्षक हैं। ऊपर के भाग में जो इन्द्र और हाथी दिखाई देते हैं, निम्न भाग में दो तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ अवस्थित हैं। श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित प्रभु के मस्तक पर अत्यन्त सूक्ष्म कीर्ति युक्त छत्र बना हुआ है जो सम्पूर्ण मूर्ति को चमका देता है। मुखमण्डल पर सौंदर्य शान्तरस और महागाम्भीर्य के दर्शन होते हैं। अनुभव होने लगता है कि यहाँ इस लघु देह में तो महान् आत्मा की स्थापना नहीं हो गयी है। मालूम होता है कि प्रतिमा सजीव है। इस प्रतिमा में जब मानव की आत्मा को आकर्षित करने की इतनी अद्भुत शक्ति है तो साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् में इससे भी अनन्त गुनी शक्ति विद्यमान रही होगी। इस प्रकार की अनुभूति आत्मा में हुए बिना न रहेगी। दर्शन करते करते मुझे यहाँ उत्कृष्ट नाटककार भवभूति की यह पंक्ति याद आ गयी "पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेवरूप रमणीयताया"। सचमुच ही भवभूति के शब्दों का प्रत्यक्षप्रमाण यहाँ मौजूद है। महा कलाकार ने अपनी कलाकुशलता से हृदय के सौन्दर्य प्रवाह को इतने सुन्दर ढंग से और इतनी सफलता से प्रवाहित किया है कि उसका अनुभव कर अवाक् रह जाना पड़ता है।

प्रश्न होता है—मूर्ति का निर्माणकाल क्या होगा? यद्यपि स्पष्ट रूप से मूर्ति पर कोई लेख खुदा हुआ नहीं है, तथापि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोरणि (बड़ी बारीक खुदाई) को देखने से यह कलचुरी काल की प्रतीत होती है। जेवरों की बहुलता, [हाथियों पर] सूक्ष्म कीर्ति कलचुरी कला के प्रमुख लक्षण हैं। इसी समय की मैंने जबलपुर, घुनसौर और छपारा में मूर्तियाँ देखी हैं जिनपर कलचुरी कला मूर्तिमती हुई है। मैं इस मूर्ति को कला की दृष्टि से मध्यप्रान्त में प्राप्त पुरातन जैन प्रतिमाओं में दूसरा स्थान देता हूँ। यहाँ पर अति हर्ष का विषय इतना ही है कि इस मूर्ति को लोगों ने किसी देव देवी का रूप देकर सिंदूर नहीं लगाया और न किसी प्रकार का बलिदान ही देते हैं जैसा कि कई स्थानों में हुआ करता है।

इसी खेत की मेड़ पर एक जैन मूर्ति पद्मासनस्थ अत्यन्त दुरवस्था में पड़ी हुई है। यह कई टुकड़ों में विभाजित है, पर किसी भले आदमी ने इसे ठीक ठाक कर गारे से चिपका कर रख दिया है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति महत्त्व की नहीं है।

एक मूर्ति भगवान ऋषभदेव की पद्मासनस्थ विराजमान है। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय की है दोनों ओर इन्द्र तथा ऊपर के भाग में दो भागों में जिन मूर्तियाँ प्रस्थापित हैं। यह भी खण्डित है। इसका मस्तक नाली के द्वार में लगा हुआ पाया गया। मैंने उस ठौर का घर पर सब मूर्तियों के साथ रखवा दिया।

यहाँ पर ११ इंच के श्याम पाषाण पर एक और मूर्ति उत्कीर्णित है। इस मूर्ति के चारों ओर नग्न मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। पाषाण में बहुत से रज कण दिखलाई पड़ते हैं इसलिए यह सैंगनिस मालूम होता है।

यहाँ और भी बहुत से अवशेष उपलब्ध होते हैं पर वे इतने अपूर्ण हैं कि यह कहना मुश्किल है कि उनका सम्बन्ध किस धर्म या संस्कृति से है।

निबन्धो के रूप में भी प्राप्य हैं। विषय विभाग के हिसाब से यद्यपि जैन लेखकों का प्रधान दृष्टिकोण धार्मिक रहा है फिर भी बुद्धिवर्द्धकर[2], हास्यविनोद[3] कौतूहल[4], ऐतिहासिक[5] आदि विविध प्रकार[6] की कथाएं भी अनेकों उपलब्ध हैं। विशालता में जैन कथा साहित्य बहुत विस्तीर्ण है। हजारों जैन कथा ग्रन्थ यत्र तत्र जैन भंडारों मे पाए जाते हैं। कथा साहित्य के कई सग्रहग्रन्थों मे तो एक ही ग्रन्थ में १००—२०० यावत् ३६० कथाओं तक का संग्रह पाया जाता है जिससे वक्ता एक ही ग्रन्थ के आधार से नित्य नई कथा सुनाते हुए भी वर्ष भर श्रोताओ को मुग्ध कर सकता है। लोक भाषा मे रचित रास, चौपई संज्ञक कई कथा ग्रन्थ तो जैन भंडारो में सचित्र पाये जाते हैं जिनका कला की दृष्टि से भी बहुत अधिक मूल्य है। कई कथा ग्रन्थों मे नवों रसो का बड़ा ही सरस वर्णन पाया जाता है, कई महाकाव्य हैं उनका विविध दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है।

जैनागमों में वाङ्मय के प्रकार—

जैनागमों मे चार अनुयोग बतलाए गए हैं—१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग, ४ द्रव्यानुयोग। इनमे से प्रथम मे सदाचारों को आचरण करने वाले स्त्री, पुरुषों का जीवन अंकित होता है जिसे धर्मकथा कहते है, किस धार्मिक विधान को किस व्यक्ति ने किस प्रकार आचरित किया, अनेकों विघ्न बाधाएं उपस्थित होने पर भी किस प्रकार उन्होंने सदाचारों की प्रतिज्ञाओं को निबाहा और उनके द्वारा उन्हे क्या फल प्राप्त हुआ ? धर्मकथा मे ऐसी कथाओ का ही समावेश होता है। दूसरे अनुयोग में गणित प्रधान खगोल, भूगोल आदि विषयों का वर्णन मिलता है। तीसरे में सदाचार के मूल नियम और उनके आचरण की विविध प्रक्रियाओं का वर्णन पाया जाता है और चौथे मे जीव, अजीव, कर्म, परमात्मा, जगत् का स्वरूप आदि तत्त्वों की व्याख्या की जाती है। इनमें से धर्मकथानुयोग का स्थान बहुत ऊंचा है इसका कारण यह है कि अधिकांश जन साधारण उच्च शिक्षित नहीं होता अतः दूसरे तीनों अनुयोग उनके समझने मे क्लिष्ट होते हैं। सदाचार के पालन व पापो से निवृत्त होने के उपदेश देने से लोग उन्हें आचरित करने व पाप कार्यों को परिहार करने के लिये उतने उत्सुक नही होते, जितने वे धर्मकथानुयोग मे उन सदाचारो के पालन का फल व पापों का कुफल सुन कर सहज ही मे उन्हे पालन व अयोग्य कार्यों का परिहार करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाते है। करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग को तो कुशाग्र बुद्धिवाले ही समझ सकते हैं इसलिये आम जनता मे धर्म प्रचार का मुख्य साधन एक

१ इस कोटि की आराधना कथा कोश एवं नन्दि सूत्र में कई कथाएँ है। २ राजशेखर सूरि का कथा ग्रन्थ। ३ धूर्ताख्यान। ४ प्रबन्ध संग्रह और अनेक ऐतिहासिक काव्यादि। ५ जैन साहित्य में कथाओं के प्रकार—भक्तकथा, स्त्रीकथा, अवनिपालकथा और राष्ट्रकथा को विकथा तथा धर्मचर्चा को धर्मकथा कहा गया है। ६ उदाहरणार्थ श्रीपाल कथा को लिया जा सकता है जिस पर श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के ६० ग्रन्थ विद्यमान हैं। इसके विषय में अनेकान्त वर्ष २ अंक २, वर्ष ३ अंक ७ में प्रकाशित मेरा लेख देखना चाहिए।

धर्म कथानुयोग ही माना गया है, कहा जाता है कि ज्ञाता धर्म कथा नामक छठे जैनागम में ३॥ करोड़ कथाएं थीं पर काल प्रभाव वश आज केवल १९ अध्याय ही इसके प्राप्त हैं जिसमें द्रौपदी आदि कुछ कथानक ऐतिहासिक व्यक्तियों के एवं कुछ उदाहरण के रूप में कथानक हैं जो बड़े सुन्दर हैं। जैनधर्म के धार्मिक आचारों को पालन करने वाले १० श्रावकों का वर्णन उपासकदशा सूत्र में पाया जाता है। इसी प्रकार जैन मुनियों का अनुत्तरोपपातिक दशा, अन्त कृतदशा, मूलाचार आदि कई ग्रन्थों में बहुत अच्छा वर्णन है। अच्छे काम करने वाले और बुरे काम करने वाले व्यक्तियों के उदाहरण (उनके फल के निर्देश में) विपाक सूत्र में बतलाए गये हैं। प्राचीन जैनागम साहित्य की कथाओं का तत्कालीन सामाजिक संस्कृति, इतिहास, निरूपण शैली, भाषा के विकाश आदि विविध दृष्टियों से बहुत महत्त्व है।

मूल आगमों के पश्चात कथा साहित्य का विकाश[1] हम उन आगमों पर रची हुई निर्युक्तियों, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्तियों में विस्तार से पाते हैं। निर्युक्ति, चूर्णि एवं भाष्यादि प्राचीन टीकाएं जिनके कथानक पर्याप्त प्राचीन एवं समसामयिक भी हैं इनका निर्माण काल ५ वीं से ९ वीं शताब्दी तक का है। इस समय के स्वतन्त्र कथा ग्रन्थ बहुत कम पाये जाते हैं, कुछ ग्रन्थ रचे अवश्य गये थे, और उनका निर्देश पीछे के कथा ग्रन्थोंमें आता है लेकिन वे आज प्राप्त नहीं हैं। जैन विद्वानों ने लोक रुचि की ओर अधिक ध्यान रखा है और समय समय पर जन साधारण में प्रचलित प्रसिद्ध कथानकों पर भी काफी ग्रन्थ लिखे हैं। जिस समय रामायण एवं महाभारत की कथा ने जन साधारण में एक नवीन उत्साह और अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी, जैन विद्वानों ने वसुदेवहिण्डी[2], पउमचरियं[3] हरिवंश पुराण आदि मौलिक ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् पादलिप्तसूरि ने तरंगवती नामक कथा बड़ी रसपूर्ण बनाई पर वह मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है उसका संक्षिप्त सार[4] ही हमें उस सरस कथा का रसास्वादन करा रहा है। धम्मिलहिण्डी ग्रन्थ भी एक सरस कथा ग्रन्थ है। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में हरिषेण ने एक आराधना कथा कोश बनाया, जिसकी श्लोक संख्या साढ़े बारह हजार है। दिगम्बर सम्प्रदाय में 'आराधना कथाकोश' नाम के दो संस्कृत ग्रन्थ और हैं, एक आचार्य प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध और दूसरा ब्र० नेमिदत्त का पद्यबद्ध। ये कथाएँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, रोचक एवं सरस हैं आठवीं शताब्दी में हरिभद्रसूरि जी ने

---

१ इस सम्बन्ध में विशेष वर्णन प्रो० A N उपाध्ये सम्पादित बृहत् कथाकोश की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

२ आत्मानंद जैनसभा भावनगर से प्रकाशित, सम्पादक मुनि पुण्य विजयजी।

३ इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मत भेद हैं। ग्रन्थकार के निर्देशानुसार इसका समय वीर सं० ५३० है।

४ इसका जर्मनी में अनुवाद प्रकाशित हुआ था० उससे गुजराती में अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

भगवान् महावीर का विहार प्रदेश

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, D L. M R A. S]

'शनैः शनैः प्रभु करैं विहार, नाना देश ग्राम पुर भार ।'
आरजखण्ड कियौ सम्बोध, तीस वरष विहरै अवरोध ।'

—वर्द्धमान पुराण १६।२०१

जैनियों के अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर वर्द्धमान ने बारह वर्ष का घोर तप तपा—उस तपस्या में उनकी आत्मा कर्ममल से मुक्त हो गई। भ० महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा हुये। जैन शास्त्र उनके वैभव का बखान करते है। बौद्ध शास्त्र भी कहते है कि भ० महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी, लोक प्रख्यात् और अनुभवी वयप्राप्त लोक नेता थे[1]। निस्सन्देह वह विश्व की विभूति थे। इन्द्र ने जाना कि भ० महावीर द्वारा विश्व का कल्याण होगा। अत: उसने प्रभु से निवेदन किया कि वे आर्यखंड में विहार कर के ज्ञानामृत की वर्षा करें, जिससे लोक को अमरत्व की प्राप्ति हो! इस निमित्त को पाकर भ० महावीर का विहार समग्र आर्यखंड में हुआ!

जैन शास्त्रों में आर्यखंड से मतलब भरतक्षेत्र के उस भूभाग से है जिसमें आर्य लोग रहते है और जहा धर्म-कर्म की प्रवृत्ति हमेशा रहती है। उस भूभाग की परिधि अत्यधिक है—आज की ज्ञात दुनियां उसमे समा जाती है। भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६ ६/१९ योजन कहा गया है और एक योजन यहा दो हजार कोस का माना है। भरतक्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है, जिसके इधर-उधर (पूर्व-पश्चिम) गंगा, सिन्धु नदियां बहती है। इन नदियों और पर्वतो से भरतक्षेत्र के छ: खण्ड हो जाते है। आजकल जो पृथ्वी उपलब्ध हुई है उसका समावेश भरतक्षेत्र के आर्यखंड में हो जाता है—विजयार्ध पर्वत उसके बाहर की चीज़ है। वह शायद उत्तरी ध्रुव में कहीं हो, जहा विद्याधरों की बस्तिया थीं और जहां आज बडे २ नगरों के खंडहर मिलते हैं।[2]

पंडित प्रवर वृन्दावन जी ने इस विषय में लिखा है कि "भरतक्षेत्र की पृथ्वी का क्षेत्र तो बहुत बडा है। हिमवन कुलाचल तैं लगाय जंबूद्वीप के कोटताई, बीचि कछू दश लाख कोश चौड़ा है, तामें यह आर्यखंड भी बहुत बडा है। या मै बीचि यह खाड़ी समुद्र है, ताकूं उपसमुद्र कहिये है।" स्व० पंडित गोपालदास जी ने भी यही मत व्यक्त किया था। श्रवण बेलगोल के पंडिताचार्यजी ने भी इसी मत को मान्य किया था। उन्होने आर्यखंड को अरब, चीन आदि छप्पन ५६ देशों में विभक्त बतलाया था। आधुनिक विद्वत्समाज मध्य एशिया, अफरीका आदि देशों का उल्लेख 'आर्यन' अथवा 'आर्यबीज' रूप में करता है। अतः वर्तमान में ज्ञात सारी दुनिया आर्यखंड में अन्तर्मुक्त समझनी चाहिये।

---

१ मज्झिमनिकाय (P T. S) भा० १ पृ० ९०

२ हमारी 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक देखो।

इस दशा में भ० महावीर का आर्यखण्ड में विहार करने का अर्थ यह होता है कि उन्होंने आज की ज्ञात दुनिया में प्राय सर्वत्र विहार किया था। एक तीर्थङ्कर महापुरुष के लिये समग्र आर्यखण्ड में विहार करना कुछ भी अनोखा नहीं है। किन्तु आजकल बहुत से विद्वान भ० महावीर के विहार क्षेत्र को भारत के पूर्वीय भाग में ही सीमित मानते हैं। दक्षिण भारत राजपूताना और पंजाब की ओर भ० महावीर पहुँचे ही नहीं थे, यह उनकी मान्यता है। श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' में भ० महावीर ने विहार कर के जिन २ स्थानों पर चौमासा किया, उनके उल्लेख के आधार से कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त मत स्थिर किया है। यह चातुर्मास वैशाली, वणिग्ग्राम राजगृह, नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, आलभी, पणितभूमि, श्रावस्ती और पावापुर में हुये लिखे गये हैं।[1] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि इन स्थानों के अतिरिक्त अथवा इनके निकटवर्ती क्षेत्र से दूर देशों में भगवान गये ही नहीं। हाथी गुफा के शिलालेख से स्पष्ट है कि भ० महावीर का समोशरण कुमारी पर्वत पर अवतरित हुआ था[2], परन्तु 'कल्पसूत्र' में यह कहीं नहीं लिखा कि भ० महावीर की धर्मदेशना कुमारी पर्वत पर हुई थी। इसके विपरीत यह उल्लेख स्पष्ट मौजूद है कि भ० महावीर का विहार सारे आर्यखंड में हुआ था। अत उसे पूर्वीय भारत में सीमित करना अयथार्थ है।

श्रीजिनसेनाचार्य जी ने 'हरिवंशपुराण' में स्पष्ट रूप में उन नाना देशों का उल्लेख किया है जिनमें भ० महावीर विचरे थे। उन्होंने लिखा है कि "जिस प्रकार भ० ऋषभदेव ने पहिले अनेक देशों में विहार कर उन्हें धर्मात्मा बनाया था, उसी प्रकार भ० महावीर ने भी मध्य के—काशी, कौशल, कौशल्य, कुसन्ध्य, अश्वष्ट साल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पाटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय सौरसेन एवं वृकार्थक, समुद्रतट के—कलिंग कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूरभीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और क्वाथतोय, एवं उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण आदि देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर ऋजु किया था[3]।"

जिन देशों के नाम श्री जिनसेनाचार्य ने ऊपर लिये हैं उनके अतिरिक्त और भी बहुत से देश थे जिनमें भ० महावीर का पवित्र विहार हुआ था। उपर्युलिखित देशों में

1 श्री विजयेन्द्रसूरि कृत 'वीरविहार मीमांसा' देखो।

2 जनल ऑव बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी,

3 'काशीकोशलकौशल्यकुसन्ध्याश्वष्टनामकान्।
साल्वत्रिगर्तपांचालभद्रकारपटच्चरान् ॥३॥
मौकमत्स्यकनीयांश्च सूरसेनवृकार्थकान्।
मध्यदेशानिमानन्यान् कलिंगकुरुजांगलान् ॥४॥
कैकेयात्रेयकाम्बोजवाल्हीकयवनश्रुतीन्।
सिन्धुगान्धारसौवीरसूरभीरुदशेरुकान् ॥५॥
वाडवानभरद्वाजक्वाथतोयान् समुद्रजान्।
उत्तरांस्तार्णकार्णाश्च देशान् प्राप्य नाभसान् ॥६॥'
—हरिवंशपुराण

अधिकांश भारत भर में फैले मिलते है और बहुत-से भारत के बाहर भी प्रतीत होते है। प्रस्तुत लेख में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह देश कहां अवस्थित थे। इसके पहले पाठक यह ध्यान में रक्खें कि पुरातत्त्व और अनुश्रुति इस बात की पोषक है कि भ० महावीर ओडीसा, पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र आदि देशों में विहारे थे। कुमारी पर्वत ओड़ीसा में है; जहा महावीर प्रभु की धर्म देशना का शिलालेखीय उल्लेख मिलता है। गांधारदेश को राजधानी तक्षशिला के भग्नावशेष जैनधर्म के अस्तित्व को प्रमाणित करते है। जैनशास्त्र कहते है कि गांधार में भ० महावीर का समोशरण अवतरित हुआ था। लोग कहते है कि वहा पास में कोटेरा ग्राम के पर्वत पर जो प्राचीन ध्वंस मंदिर है, वह भ० महावीर के शुभागमन का स्मारक है[१]। मेवाडदेश में मज्झिमिका नगरी भ० महावीर के निकट समय में प्रख्यात् थी। वहां ऐसे लेख मिले है जिनसे उस नगरी में अहिंसाधर्म के प्राबल्यकी सूचना मिलती है। भ० महावीर के निर्वाण काल के ८४ वें वर्ष के एक शिलालेख में उसका उल्लेख है[२]। यदि भ० महावीर का विहार उस नगरवर्ती प्रदेश में न हुआ होता तो इतने प्राचीन उल्लेख वहां जैनधर्म के प्रभाव के कैसे मिलते? कैसे जैनधर्म वहाँ पहुँचा? जब स्वयं तीर्थङ्कर ही वहां न पहुंच पाये तो उनके गणधर जल्दी से वहा कैसे पहुंचे? गणधरों के बहुप्रदेशी विहार का वर्णन भी शास्त्रों में प्रायः नहीं मिलता! अतः यह उचित जँचता है कि स्वयं भ० महावीर का विहार उक्त प्रदेशों में हुआ था। महाराष्ट्र का तेरपुर स्थान जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र है। यह उल्लेख इस बात के प्रमाण है कि भ० महावीर का विहार पूर्वीय भारत में ही सीमित नहीं रहा था।

अब आइये पाठक, श्री जिनसेनाचार्य जी के बताये हुये देशों में से प्रत्येक का परिचय पाने का प्रयत्न करें। पहले ही मध्यदेश के स्थानों में काशी का उल्लेख है।

१ काशी देश की स्थापना भ० ऋषभदेव के समय में इन्द्र द्वारा हुई थी। कहते है कि चन्द्रवंश के काशीराज की अपेक्षा यह देश काशी कहलाया था। टोल्मी ने इसे कस्सिड (Kassida or Kassidia) देश लिखा था। वर्तमान का बनारस डिवीजन ही प्रायः प्राचीन काशी देश है।

२ कौशल काशी से सटा हुआ देश था। आजकल के फैजाबाद डिवीजन का प्रदेश उसमें अन्तर्भुक्त था। कौशल की राजधानी अयोध्या थी। कौशल के पश्चिम में पञ्चाल, दक्षिण में सर्पिका नदी (सई नदी), पूर्व में सदानीर और उत्तर में नेपाल था।

३ कौशल्य संभवतः दक्षिण कौशल का द्योतक है, जो विंध्याचल का पृष्ट भाग कहा जा सकता है।

४ कुसंध्य कौन सा देश था? यह ठीक से बताना कठिन है; परन्तु 'हरिवंश पुराण' में अन्यत्र एक कुशद्य देश की राजधानी शौर्यपुर लिखी है। इस शौर्यपुर को यादवनरेश शूर ने मथुरा से चल कर बसाया था। आजकल आगरा जिला के अन्तर्गत बटेश्वर नामक

१ Stein in Vienna Oriental Journal, 1890, p. 80, p. 263.

२ राजपूताने का इतिहास (ओझा), भा० १ पृ० ३५८ व संक्षिप्त जैन इतिहास।

—भा० २ खंड १ पृ० १००

स्थान पर प्राचीन शौर्यपुर के ध्वंसावशेष बताये जाते हैं। अत संभव है कि कुशाग्र और कुशार्य देश एक हों? इसी प्रदेश में लगा हुआ कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर है, जो कुशस्थल नाम से भी प्रसिद्ध रहा है[1]। शौर्यपुर और कान्यकुब्ज के मध्य में संकिसा (प्राचीन संकाश्य) जिला फर्रुखाबाद में पड़ता है, वहां जनक के भाई कुशध्वज शासन करते थे[2]। अत यह सारा प्रदेश ही उस समय कुशार्य या कुशार्य नाम से प्रसिद्ध था, ऐसा अनुमानित होता है। इसके अतिरिक्त एक कुशद्वीप अफ्रीका में मिश्र, अबीसिनीया और इथोपिया के भूभाग प्रदेशवाला था—यहां यादवों के पहुंचने की वार्ता भी प्रचलित थी और आर्य संस्कृति का प्रसार था[3]। किंतु कौशल्यदेश के साथ आगरा से कन्नौज तक फैला हुआ कुशार्यदेश श्री जिनसेनाचार्य को अभिप्रेत प्रतीत होता है।

५ अश्वष्ट इस नाम से सादृश्य रखने वाले दो स्थान (१) अश्वक (२) अष्टकप हैं। अश्वक प्रदेश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से परे काबुल नदी के उत्तर भाग में स्थित था। यूनानियों ने इसे Aspasioi नाम से पुकारा था[4]। अश्वष्ट से इसका सादृश्य अधिक है। अष्टकप का उल्लेख टोल्मी ने किया है, जो हस्तकवप्र का अपभ्रंश है। यह गुजरात में था[5]।

६ साल्व ज्ञात नहीं कि इससे कौन सा प्रदेश अभिप्रेत है। अलबत्ता दक्षिण भारत के राजाओं में एक राजवंश 'सालुव' नामक भी था साल्वमल्ल जिनदास तुलुवदेश पर शासन करते थे[6]। दक्षिण के एक शिलालेख में उल्लेख है कि सालुव राजा पूर्व प्रदेश से वहां आये थे[7]। अत साल्व देश बिहार ओडीसा अथवा दक्षिण भारत में अवस्थित हो सकता है।

७ त्रिगर्त श्रीहेमचन्द्राचार्य ने 'अभिधानचिंतामणि' (४।२४) में त्रिगर्त का उल्लेख जालन्धर के साथ किया है। (जालन्धरास्त्रिगर्ताः स्युः) रावी, व्यास और सतलुज नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसके जालंधर व कोटकांगड़ा मुख्य नगर थे[8]।

८ पांचाल वर्तमान बदायू, फर्रुखाबाद, बरेली, एटा आदि जिलों का प्रदेश ही प्राचीन पांचाल है। उसकी उत्तरीय राजधानी अहिच्छत्र थी और दक्षिणी काम्पिल्य[9]। फर्रुखाबाद जिले का काम्पिल्य प्राचीन काम्पिल्ल है। यहां विमलनाथ तीर्थंकर के चार

---

१ कनिंघम ऐंशियेंट जागरफी ऑव इण्डिया, नोट्स, पृ० ७०७
२ पूर्व० पृ० ७०५
३ भ० पार्श्वनाथ, पृ० १
४ कनिंघम, ऐ, जा० इ० ६६७
५ पूर्व० पृ० ६९९
६ जैनिज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर (धारवार) पृ० ५२
७ मैसूर एण्ड कूर्ग (राइस) पृ० १२२ १२३
८ कनिंघम ऐ.जा.० पृ० ६८३
९ पूर्व० पृ० ७०४

कल्याणक हुये थे। कायमगंज स्टेशन से जाया जाता है। श्वेताम्बरीय 'उपासकदशासूत्र' में उल्लेख है कि भ० महावीर का समवशरण काम्पिल्य में आया था।

१० पाटच्चर ज्ञात नहीं इससे कौन-सा प्रदेश लिखा गया है। सिन्धु का 'पाटलिन' नाम से यूनानियों ने उल्लेख किया है। संभव है पाटच्चर सिन्धु का पार्श्ववर्ती प्रदेश हो!

११ मौक कनिंघम सा० ने पंजाब में जलालपुर के पास राजा मोय द्वारा स्थापित सोग स्थान का उल्लेख किया है[1]; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्थान मौक था।

१२ मत्स्य इस देश की राजधानी वैराट् थी, जो आजकल जयपुर रियासत का वैराट नगर है। अतः भरतपुर और जयपुर रियासतों के पासवाला देश और अलवर रियासत मत्स्य देश कहा जा सकता है[2]। वह इन्द्रप्रस्थ और शूर से दक्षिण में था।

१३ कनीय देश का पता लगाना शेष है।

१४ शौरसेन प्रदेश इन्द्रप्रस्थ से दक्षिण में और मत्स्य से पूर्व में स्थित था। वह मथुरा से चम्बल तक फैला हुआ था। मथुरा राजधानी थी[3]।

१५ वृकार्थक इस नाम के देश का पता हमें नहीं ज्ञात हुआ।

१६ कलिङ्ग बङ्ग देश के दक्षिण में था और दक्षिण में महेन्द्र पर्वत तक फैला हुआ था। दन्तपुर राजधानी थी। वर्तमान का ओड़ीसा प्रान्त व उसका दक्षिणवर्ती प्रदेश को कलिङ्ग समझना चाहिए।

१७ कुरुजांगल देश सरस्वती और गंगा नदियों का मध्यवर्ती भूभाग था, जिसकी राजधनी हस्तिनापुर थी। आजकल मेरठ और मुजफ्फरनगर आदि जिलों में यह देश गर्भित है।

१८ कैकेय प्रदेश पंजाब में व्यास नदी के उस पार गांधार तक फैला हुआ था। वर्तमान कंधार तक का प्रदेश इसे समझना चाहिये[4]।

१९ आत्रेय अज्ञात है।

२० कम्बोज गांधार का पार्श्ववर्ती प्रदेश था[5]। आजकल कंधार से सटा हुआ प्रदेश कम्बोज समझना चाहिये।

२१ वाल्हीक वाहीक लोगो का प्रदेश वाल्हीक होना चाहिये, जो वैदिक आर्यों के देश से दूर बसते थे। कात्यायनवार्त्तिका में 'बहिस्' (Out side) धातु से वाहीक शब्द की उत्पत्ति लिखी है[6]। 'बृहत् संहिता' में भी वाल्हीक देश का उल्लेख हुआ है,

१ कनिंघम, ऐन्शियेंट जागरफी ऑव इण्डिया, पृ० २०४
२ पूर्वपुस्तक पृ० ७०२
३ पूर्वपुस्तक पृ० ७०६
४ पूर्वपुस्तक पृ० ६८५
५ कनिंघम, ऐजाइं०, पृ० ६८३
६ पूर्व० पृ० ६८७

जिसे विद्वान् लोग बैकट्रियन देश की राजधानी बल्ख का संस्कृत रूप बताते हैं। जब बल्ख के शक लोग पंजाब में आ बसे तब वह प्रदेश भी बाह्लीक नामसे प्रसिद्ध होगया था[1]।

२२ यवनश्रुति प्रदेश यूनान और उसके पार्श्ववर्ती भूभाग का द्योतक है। यूनानी लोग प्राचीन भारत में 'यवन' नाम से उल्लेखित होते थे[2]। आजकल के विद्वान् भी यह कहते हैं कि बौद्ध भिक्षु और जैन श्रमण यूनान और नार्वे तक प्रचार के लिये गये थे[3]। एक श्रमणाचार्य (दि० जैन) की समाधि यूनान के अथेन्स नगर में थी।[4]

२३ सिन्धु वर्तमान का सिन्ध प्रान्त प्राचीन सिन्धु माना गया है। वैसे ग्वालियर राज में पद्मावती के आसपास का सिन्धु, पारा, लवण और मधुमती नदियों का परवर्ती प्रदेश भी सिन्धु नाम से प्रसिद्ध था[5], परन्तु वह समुद्रतटी नहीं था। इसलिए 'हरिवंश' का सिन्धु वर्तमान का सिन्ध प्रान्त है।

२४ गांधार यूनानी लेखक स्ट्रेबो ने गांधार का उल्लेख 'गन्दरितिस' (Gandarites) नाम से किया है और उसे चोअस (Choa pes) और सिन्धु नदियों के बीच में बहने वाली कोफस (Kophes) नदी के किनारे २ फैला हुआ बताया है। टॉलमी ने उसका उल्लेख 'गन्द्रोइ' (Gandaroe) नाम से किया है और उसे कोफे (Kopho) के दोनों तटों पर वहां तक फैला बताया है जहां तक वह सिंधु में जाकर गिरी हैं। चीनी यात्रियों ने 'कीन तो-लो' (Kien tho lo) नाम से उसका उल्लेख किया है और उसे सिंधु नदी से पश्चिम की ओर अवस्थित लिखा है[6]। 'रामायण' में इसका उल्लेख 'गन्धर्व विषय' नाम से हुआ है और उसे सिंधु के दोनों तटों पर फल फूल से शोभित बताया है। युद्ध कोविद गंधर्व उसकी रक्षा करते थे[8]। ऋग्वेद और महाभारत में भी गांधार का उल्लेख हुआ है। ईरानी इसे 'गदार' कहते थे। तक्षशिला और पुष्कलावती इसके मुख्य नगर थे[9]।

२५ सौवीर 'बृहत्संहिता' में सिंधु-सौवीर देश को नैऋत्य दिशा में बताया है[10]। यह प्रदेश सिंधु से लगा हुआ था। भ० महावीर के मौसा राजा उदयन सिंधु और

---

१ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० २ पृ० ७२१

२ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० ७० ७८

३ भगवान् महावीर

४ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वॉरटर्ली,

५ कनिंघम पेज ६० पृ० ७२०

६ पूर्व०, पृ० ५४

७ कनिंघम, पृष्ठ ६० पृ० ५४

८ 'अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ॥
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः ।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः ॥

—उत्तरकाण्ड ११३।१० ११

९ कनिंघम, पेज ६० पृ० ६७५

१० 'नैऋत्याम् दिशि देशा—पह्लव काम्बोज सिन्धु-सौवीर । —बृहद्संहिता १४।१७

सौवीर पर शासन करते थे। भ० महावीर का समोशरण जब यहां आया तब वह मुनि हो गये[1]।

२६ सूरभीरु भी समुद्रतटवर्ती देश था, जो संभवतः 'सुरभि' नामक देश का बोधक है। यह सुरभिदेश मध्य एशिया में क्षीरसागर (Caspian Sea) के निकट (Oxus) नदी से उत्तर की ओर स्थित था। यह आजकल खीव (Khiva) प्रान्त का खनत अथवा खरिस्म प्रदेश है[2]।

२७ उशेरुक
२८ वाडवान
२९ भारद्वाज

इन देशों का पता लगाने में हम असमर्थ है। यदि कोई पाठक इनका परिचय प्रकट करें तो अच्छा है।

३० क्वाथतोय देश समुद्र के किनारे होने के कारण उस समुद्र के जल के कारण इस नाम से प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। वह उस समुद्रतट का देश था, जिसका जल क्वाथ के समान था। अतः इस प्रदेश का 'रेड-सी' (Red Sea) के निकट होना उचित है। रेड-सी के किनारे पर अबीसीनिया, अरब, इथ्यूपिया आदि देश अवस्थित हैं, जिनमें जैन धर्म प्रचार के उल्लेख मिलते है।[3]

३१ तार्ण उत्तर दिशा का देश था और संभवतः तूरान था।

३२ कार्ण भी उत्तर दिशा को बताया है और यह काफिरिस्तान हो सकता है।

३३ प्राच्ताल अज्ञात है।

जैन वीर बंकेय

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ, MOODBIDRI.]

किंध्यासानुस्थ रेवा राजधानी में राष्ट्रकूट-नरेश जगत्तुंग गोविंद न्यायपूर्वक राज्य करता था। गोविंदराज तथा इनकी सुशीला पटरानी गामुंडब्बे का सुपुत्र ही 'कविराजमार्ग' के रचयिता, कविरत्न नृपतुंग हैं। राजा गोविंद के मरणोपरांत कुमार नृपतुंग के निर्व्याज कंधों पर ही इस विशाल राज्य का शासन-भार आ पड़ा। नृपतुंग ही सुविधानुसार रेवास्थित अपनी राजधानी को दक्षिण के मान्यखेट पर लाये। नृपतुंग विचक्षण, कला-विशारद, सर्वधर्म-समदर्शी एक आदर्श शासक थे। इनकी पतिपरायणा पट्टमहिषी उमादेवी के गर्भ में कुमार कृष्ण एवं चंद्रबलब्बे तथा शंखादेवी नामक पुत्रियों का जन्म हुआ। नृपतुंग के राजकार्यों में जैन वीर बंकेय ही पथप्रदर्शक रहे। वीर मुकुल के पुत्र एरकोरि, एरकोरि के पुत्र घोर, घोर के पुत्र वीर बंकेय हैं। बंकेय के प्रपितामह मुकुल शुभतुंग कृष्णराज के, पितामह

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २१२
२ इंडियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० २ पृ० २६
३ भगवान पार्श्वनाथ, पृ० १७३-२०२

परकोरि शुभतुग के पुत्र ध्रुवनृप के एव पिता घोर चक्री गोविंदराज के राजकार्य सारथि थे। बंकेय की अर्द्धांगिनी या माता मनी विजयाम्बा रही। नृपतुग की बंकेय पर अटूट श्रद्धा थी। यही कारण है कि एक लेख में नृपतुग ने बंकेय के संबंध में वितत्तज्योतिर्निशितासिरिवापर' यों स्पष्ट कहा है।

पहले बंकेय नृपतुग के आप्त सेनानायक के रूप में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर नरेश के पूर्ण कृपापात्र बनने के फलस्वरूप पीछे से विशाल बनवासि प्रांत के सामन्त बना दिये गये। यद्यपि बाद बंकेय नृपतुग से कुछ दूर रहने लगे अवश्य। फिर भी नरेश पर उनका वही पहले का भाव था। बल्कि बंकेय का सदा मान्यखेट में आना जाना भी बना रहता था। बंकेय के महा प्रधान गणपति भट्टार यद्यपि वैदिक सनातनी थे। फिर भी बंकेय पर उन्हें अगाध प्रेम था। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नृपतुग के शासन काल में मान्यखेट राजधानी में क्रमशः जैन विद्वानों एव अधिकारियों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी उसमें बंकेय का भी हाथ रहा।

एक रोज पुलिगेरे के 'महाजन' के सुयोग्य अध्यक्ष रविकय्य के साथ सिंघण हेग्गडे ने मान्यखेट में बंकेय से भेंट कर गंग राजाओं द्वारा उन्हें पहुँचाये जाने वाले असीम कष्टों का निवेदन कर इन कष्टों से मुक्त करने के लिये चक्रवर्ती की सहायता की प्रबल इच्छा व्यक्त करते हुए इस कार्य में सहयोग देने के लिये बंकेय से प्रार्थना की। सिंघण की करुणकथा से वीर बंकेय का हृदय पिघल गया और उसे आश्वासन देते हुये दूसरे ही दिन प्रातःकाल चक्रवर्ती के दरबार में उन्हें बुलाया। दूसरे दिन नृपतुग भी सिंघण की इस करुणकथा से विशेष प्रभावित हुआ और इन कष्टों से उन्हें मुक्त करने का गुरुतर भार नरेश ने जैन वीर बंकेय पर लादा। बंकेय नृपतुग की इस महती आज्ञा को सहर्ष स्वीकार कर वापिस बनवासि लौटते ही गंगराज पर युद्ध के लिये सेना सिद्ध करा कर शुभ मुहूर्त में वहां से चल भी पड़ा।

इसी बीच में बंकेय को चक्रवर्ती नृपतुग का एक आवश्यक पत्र मिला। उस पत्र में इस बात का संकेत था कि 'गुप्तचरों से अभी अभी मालूम हुआ है कि युवराज कृष्ण इस समय गंगवाडि में ही मौजूद है। वहां के युवराज भूतुग से इनकी घनी मैत्री हो गई है। साथ ही साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि कुमारी चन्द्रबलब्बे का विवाह युवराज भूतुग से करना उन लोगों ने निश्चित कर लिया है। प्रायः इस कार्य में कुमारी चन्द्रबलब्बे की सम्मति भी ली गई है। अतः आप वहां पर काफी सतर्क एवं सावधानी से काम लेना।'

दूसरे ही दिन प्रातःकाल बंकेय की अनेय सेना बनवासि की सीमा पार कर गई। बाद कई ग्रामों में यह गंगवाडि की सीमा पर पहुँचा और वहां से बीच बीच के गावों को उपद्रवों से अधीन करती हुई सीधी राजधानी की ओर चली। फलतः एक रोज सन्ध्या के समय सेना ने गंगवाडि के दुर्ग से उत्तर की ओर करीब तीन मील की दूरी पर वर्तमान

विशाल मैदान में अपना पड़ाव डाला। दूसरे दिन प्रातःकाल बंकेय ने अपने एक सुयोग्य कुशल राजकर्मचारी द्वारा गंगराज राजमल्ल के पास इस आशय का एक संदेश कह भेजा कि चक्रवर्ती नृपतुंग से आप के सामंतों ने यह शिकायत की है कि आप उन्हें हर प्रकार से सताते हैं। इस बात की यथार्थता जानने के लिये चक्रवर्ती के द्वारा मैं यहां पर भेजा गया हूं। इसलिये इस समय धर्मानुकूल इसका समाधान करना आप का कर्तव्य है।

परन्तु गंगराज ने इस संदेश को ठुकरा दिया। परिणामतः बंकेय वीरावेश से तत्क्षण अपनी प्रबल वाहिनी के साथ आगे बढ़े। यथाशीघ्र वे जलदुर्ग को लांघ कर किले के अन्दर आ पहुंचे। वहां पर दोनों ओर की सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। अन्त में गंगराज की सेना हार गई, बंकेय की विजय हुई, गंगराज राजमल्ल बंदी बना दिये गये। बाद युवराज कृष्ण को आगे आना पड़ा और इन्हीं की सम्मति से गंगराज मुक्त कर दिये गये। नृपतुंग से क्षमायाचना के लिये युवराज कृष्ण तथा बंकेय के साथ राजमल्ल गंग युवराज भूतुग, पल्लव नंदिवर्धन को लेकर मान्यखेट राजधानी में चलने को तैयार हुए। ये सब यथासमय मान्यखेट पर पहुंचे और चक्रवर्ती ने उन्हें क्षमा भी कर दिया। इतना ही नहीं, युवराज भूतुग के प्रार्थनानुसार दीर्घकाल से बन्दी किये गये वेंगि के चालुक्य-सामंत गुणगांक विजयादित्य भी छोड़ दिये गए।

इसी समय भरी सभा में नृपतुंग की ओर से वीर बंकेय को उल्लेखनीय इस अमर विजयोपलक्ष्य में कोई अभीष्ट वर मांगने के लिये आज्ञा हुई। इस पर भव्य बंकेय ने सगद्गद राजा नृपतुंग से यह प्रार्थना की कि 'महाराज, अब मेरी कोई भी लौकिक कामना बाकी नहीं रही। अगर आप को कुछ देना ही अभीष्ट है तो कोलनूर में मेरे द्वारा निर्मापित पवित्र जिन मंदिर के लिये—सुचारु रूप से इसके कार्य संचालनार्थ आप एक भूदान प्रदान कर सकते हैं।' बस, बंकेय के इस आशयानुसार उक्त मंदिर के निरीक्षक सैद्धांतिकाग्रणी देवेंद्रमुनि को चक्रवर्ती नृपतुंग की ओर से राष्ट्रपति जयात्वके तत्त्वावधान में एक भूदान दिया गया। यह एक विशाल प्रस्तर खंड में अंकित उल्लेख आज भी उपलब्ध है।

स्थालीपुलाक न्याय से विज्ञ पाठक सिर्फ इसी एक दृष्टांत से बंकेय के अटूट धर्मप्रेम को आसानी से परख लेंगे। वास्तव में बंकेय एक अजेय वीर ही नहीं थे; बल्कि एक आदर्श भव्य श्रावक भी। एक सुप्रसिद्ध जैनेतर विद्वान् का कहना है कि दक्षिण भारत के उल्लेखार्ह वीरों में जैन वीर बंकेय का नाम ही प्रथम है। बल्कि इन्हीं के नाम से उसी जमाने में बसा हुआ 'बंकापुर' नामक एक आदर्श नगर का भग्नावशेष पूना-बंगलूर रेलवे लाइन में हुब्बल्लि-हरिहर स्टेशनों के बीच में पाठकों को आज भी मिलेगा।

यद्यपि बंकेय की अमर जीवनी अभी तक गाढांधकार में छिपी पड़ी थी। अब भारतीय ज्ञानपीठ काशी की कर्णाटक-शाखा मूडबिद्री के सफल प्रयत्न से वह शीघ्र ही विज्ञ पाठकों के समक्ष सहर्ष रखी जानेवाली है। कन्नड़ भाषा में तो जीवनी तैयार हो चुकी है। सिर्फ प्रेस में देना बाकी है। हां, इसके हिन्दी अनुवाद में कुछ समय लगेगा अवश्य। पता नहीं है कि ऐसे-ऐसे कितने वीर रत्नों की आदर्श जीवनियां इस प्रकार सघन अंधकार में पड़ी-पड़ी उद्धारक एवं प्रकाशकों की प्रतीक्षा कर रही होंगी। रत्नगर्भा यह भारत माता धन्य है, जिसकी कोख से ऐसे-ऐसे असंख्य वीर रत्न जन्म लेकर अपनी प्यारी माता के मुख को उज्ज्वल कर गये हैं।

स्वप्न और उसका फल

[ले०—श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा]

(गतांक से आगे)

—०००—

पाश्चात्य मतानुसार स्वप्न फल

टाट—अगर स्वप्न में फटे, मैले टाट के दर्शन हों तो अनिष्ट होता है और स्वच्छ टाट पर स्वयं को बैठे हुए देखने से धन प्राप्ति होती है। जी० एच० मिलर के मत से लाटरी या सट्टे में बहुत धन एवं स्वादिष्ट भोजन मिलते हैं।

टीन—स्वप्न में टीन के देखने से मित्रों से शत्रुता होती है। टीन में रखी हुई चिकनी वस्तु का दर्शन करने से मिष्टान्न एवं मांस की प्राप्ति होती है तथा अचानक मित्रों से मिलन होता है। टीन का काटना और खाना अनिष्टकर होता है।

तालाब—स्वप्न में तालाब देखने से आशा से अधिक धन की प्राप्ति होती है तथा दो वर्ष बाद विपुल सम्पत्ति की प्राप्ति समझनी चाहिये।

दुग्धालय—स्वप्न में दुग्धालय देखने से अविवाहितों को शीघ्र ही प्रेमिका मिलती है और विवाहितों को सुख शान्ति मिलती है। किसी किसी के मत से यह साधारण स्वप्न है, इसका कोई विशेष फल नहीं बताया है।

दुर्घटना—स्वप्न में दुर्घटना देखने से इस बात की चेतावनी मिलती है कि यात्रा करना बन्द कर देना चाहिये, यात्रा तीन महीने तक प्राणान्त करने वाली होती है।

धनदौलत—स्वप्न में स्वयं धन दौलत देखने से प्रकट होता है कि अपने दृढ़ अध्यवसाय से उद्योग में अपरिमित धन की प्राप्ति होगी। दूसरे आदमी को धन प्राप्त करते हुए देखने से ज्वर आने का भय रहता है।

धुँआ—स्वप्न में धुँआ देखना अत्यन्त हानिकारक होता है। इस स्वप्न का फल चिन्ता, भय, प्रेमिका वियोग, धन हानि एवं कार्य-असफलता है।

नट—नाचते हुए नट को स्वप्न में देखने से पिता को कष्ट एवं मित्र की मृत्यु होती है। साधारण रूप से नट को देखने से शुभ फल होता है।

पर्वत—स्वप्न में पर्वत के ऊपर चढ़ना देखना शुभ फल दायक है, शिखर पर चढ़कर ऊपर ही रह जाना देखने से सहस्रों रुपये की आमदनी होती है और नीचे गिरना देखने से बहुत कष्ट होता है तथा व्यापार में सैकड़ों रुपये की हानि होती है।

बाजा—स्वप्न में बाजा देखने से सुख, आदर, आतिथ्यग्रहण एवं त्यौहार आदि में आनन्दोल्लास होता है। रोग, दुःख एवं निराशा का नाश होता है। पुराना टूटा बाजा देखने से प्रेम और उद्योग में बाधा आती है तथा प्रेमिका से अपमान सहन करना पड़ता है। बाजा बजाना देखने से घरेलू युद्ध होता है।

बालक—स्वप्न मे रोते हुए बालक को देखने से बीमारी और निराशा होती है। मतान्तर से पाँच माह की लम्बी बीमारी का सामना करना पड़ता है। तेजस्वी और स्वस्थ बालक को देखने से प्रेम के बदले प्रेम मिलता है तथा मित्रो से बधाइयाँ मिलती हैं। यदि कोई स्त्री स्वप्न मे किसी बच्चे का लालन-पालन करती हुई अपने को देखे तो उसे यह समझना चाहिये कि जिस पर वह विश्वास करती है उसीसे ठगी जायगी एवं उसका प्रेमी गुप्त रूप से किसी अन्य के साथ प्रेम करता है जिसका भण्डा-फोड़ शीघ्र ही होने वाला है। मतान्तर से बच्चे के साथ प्रेम करते हुए अपने को देखना सन्तानदायक बताया गया है।

बैल—यदि स्वप्न मे सुन्दर श्वेत वर्ण के बैल के दर्शन हों तो दुश्मनों की चालबाजी से अच्छे मित्र रक्षा करते हैं तथा शरीर निरोग रहता है। बैल के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने को देखने से पन्द्रह दिन के भीतर लाटरी मे धन मिलता है। रुपये, पैसो से बैल की पूजा करना देखने से जमीन के नीचे से धन की प्राप्ति होती है।

भयभीत—स्वप्न मे अपने को भयभीत देखने से प्रवास होता है तथा किसी बड़े कार्य में असफलता मिलती है। बन्धुओं और मित्रों से विरोध होता है।

भिक्षा—स्वप्न मे क्रुद्ध होकर भिक्षा देना या लेना देखने से निन्दा होती है। प्रसन्नता पूर्वक भिक्षा देना और लेना देखने से तीन दिन आनन्द पूर्वक व्यतीत होते हैं; मतान्तर से यह स्वप्न साधारण है, इसलिये इसका कोई विशेष फल नहीं बताया गया है।

भूखा—स्वयं अपने को स्वप्न में भूखा देखना घर में सुख और सन्तोष के अभाव को प्रकट करता है तथा प्रेमियों के लिये ऐसा स्वप्न देखने पर विवाहोपरान्त शीघ्र ही विवाह विच्छेद होता है। भूखे व्यक्तियों को चारो ओर भ्रमण करते हुए देखने से प्रेमिका का रुष्ट होना प्रकट होता है तथा एक महीने के लिये आर्थिक कष्ट होता है। भूख से अत्यन्त विह्वल होकर भिक्षा मागते हुए अपने को देखने से भारी विपत्ति आती है। अत्यन्त भूख से पीड़ित होकर रोना-चिल्लाना देखने से किसी बड़े नेता की मृत्यु होती है। जी० एच० मिलर के मत से भूखे मनुष्य का स्वप्न में दर्शन करने से शीघ्र विवाह होता है।

मगर—स्वप्न मे मगर देखने से युद्ध क्षेत्र में १० दिन के बाद जाना पड़ता है। यदि भूखा मगर खाने को दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो तो भयङ्कर बीमारी आती है। मगर के साथ क्रीड़ा करते हुए देखने से नाना प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

मछली—स्वप्न मे मछली का दर्शन शुभ फलदायक होता है। यदि पानी मे तड़फड़ाती हुई मछली का दर्शन स्वप्न में हो तो हानि; मछली वेचनेवाले की दुकान पर दर्शन हो तो लाभ और रास्ते में ले जाते हुए अन्य व्यक्ति को देखने से कार्य मे सफलता मिलती है। मतान्तर से मछली का स्वप्न विवाह का सूचक है, पर इस स्वप्न मे दो मछलियों के दर्शन अपेक्षित है।

मवक्किल—स्वप्न में मवक्किल के देखने से घर मे सन्तान लाभ होता है। यदि रुपये देते हुए किसी मवक्किल को वकील से बातें करते हुए देखे तो अपमान और धन हानि होती है। साधारणतया मवक्किल का स्वप्न शुभ फलप्रद होता है।

मवेशी—स्वप्न में मवेशी देखने से भाई को उन्नति होती है। यदि मवेशी स्वप्न में बीमार दिखलाई पड़े तो बड़े पुत्र की बीमारी की सूचना समझनी चाहिये। गाय, हाथी, घोड़े आदि पालतू मवेशी के देखने से श्रेष्ठ फल होता है।

मशान—स्वप्न म मशान भूमि के दर्शन हों तो घर में होने वाली कलह की सूचना समझनी चाहिये। यदि मशान भूमि में अधिक मनुष्यों की भीड़ दिखलाई पड़े तो घर में उत्सव होता है।

मसजिद—स्वप्न में मसजिद देखने से धार्मिक कार्यो में उत्साह होता है। यदि रंगीन, बेलबूटों से चित्रित मसजिद स्वप्न में दिखलाई पड़े तो किसी बड़ी भारी विपत्ति की सूचना समझनी चाहिये।

मस्तक—यदि स्वप्न में मस्तक में दर्द हो तो शारीरिक कष्ट की सूचना समझनी चाहिये। आधे मस्तक में दर्द का अनुभव हो तो आगामी विपत्ति की सूचना समझनी चाहिये।

माता—स्वप्न में आदर्श माँ के दर्शन हो तो कार्य में सफलता मिलती है और माता के साथ वार्तालाप हो तो युद्ध में विजय लाटरी से धन लाभ होता है। यदि माता मस्तक पर हाथ रख कर कुछ आदेश दे तो वह यथार्थ निकलता है।

माला—स्वप्न में सुन्दर माला के दर्शन हों तो कामिनियों के दर्शन, आलिंगन और वार्तालाप का सुख प्राप्त होता है। माला धारण करने से विवाह शीघ्र होता है, नये उत्सवों मे जाना पड़ता है। यदि कोई अपने गले की माला उतार कर दूसरे को अर्पित करे तो १० महीने के भीतर मृत्यु की सूचना समझनी चाहिये। मुरझाई हुई माला का दर्शन बीमारी की सूचना देता है।

मुद्रा—स्वप्न में मुद्रा का दर्शन विपत्ति सूचक है। यदि किसी स्थान से अकस्मात् बहुत सी मुद्राएँ प्राप्त होने का स्वप्न आवे तो युद्ध क्षेत्र में जाने का निमन्त्रण समझना चाहिये। मुद्रा गलाते हुए स्वप्न को देखे तो प्रेमिका मिलन और अन्य को देखे तो हानिकर जानना चाहिये।

मोती—स्वप्न में मोती का दर्शन व्यापार में लाभकारक होता है। यदि मोतियों की माला धारण करने का स्वप्न आवे तो किसी जासूसी कार्य में सफलता की सूचना समझनी चाहिये। समुद्र के किनारे से मोतियों के निकालने का स्वप्न आवे तो घर में सन्तान उत्पत्ति समझनी चाहिये।

यन्त्र—यदि स्वप्न में यन्त्र दिखाई पड़े तो किसी मशीनरी के कार्य में बड़ी भारी सफलता समझनी चाहिये। देश विदेशों में व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ता है। किसी प्रयोगशाला में जाकर यन्त्रों के आविष्कार का स्वप्न दिखाई पड़े तो स्वप्न द्रष्टा विज्ञान की उन्नति के साथ साथ रासायनिक और वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कारक होता है। जड़ विज्ञान के अतिरिक्त विद्युत आलोक और जल के सम्बन्ध में पदार्थ ज्ञान मापक यन्त्रों का श्रेष्ठ आविष्कर्ता

बनता है। यंत्र से काम करते हुए स्वयं को देखने में धन प्राप्ति और अन्य को देखने में मित्र समागम होता है। मतान्तर से यन्त्र संचालन का स्वप्न शीघ्र विवाह का सूचक है।

यहूदी—यदि स्वप्न में यहूदी जाति के लोग अपनी प्राचीन भाषा हिब्रु में बातचीत करते हुए दिखाई पड़ें तो उनकी भाषा की उन्नति की सूचना समझनी चाहिये। मतान्तर से इस स्वप्न का फल किसी भी प्राचीन भाषा का उन्नति द्योतक है। यहूदी युवति से स्वप्न में प्रेम करते हुए स्वयं को देखे तो सुन्दर, स्वस्थ और सुशिक्षित अपनी जाति की कन्या से विवाह और अन्य को प्रेम करते देखे तो सुन्दर स्त्री—दो चार विवाह की गई युवति से विवाह होता है। इस स्वप्न का फल तीन महीने के बाद और पाँच महीने के पहले मिलता है।

यात्रा—यदि स्वप्न में किसी स्थान के लिये यात्रा करते हुए देखे तो युद्ध और मुकद्दमे में विजय होती है। यदि यात्रा के लिए सब सामान तैयार कर चलने की तैयारी करते हुए अपने को देखे तो व्यापार में लाभ, युद्ध में विजय और प्रियजनों से मिलन होता है। यात्रा की तैयारी नहीं हुई, किन्तु यात्रा करने के लिये यदि उत्सुकता स्वप्न में दिखाई पड़े तो कालान्तर में यात्रा करनी पड़ती है। यदि साथ में कुछ मित्र और पूज्य लोग यात्रा करते हुए दिखाई पड़ें तो तीन महीने के भीतर किसी पवित्र स्थान के लिये यात्रा करनी पड़ती है, इस यात्रा में धन-धान्य के लाभ के साथ और भी अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ मिलती हैं। मतान्तर से इस स्वप्न का फल जुआ या लाटरी से धन लाभ कराने वाला बताया गया है।

युद्ध—यदि स्वप्न में युद्ध करते हुए अपने को देखे तो शीघ्र ही युद्ध के लिये प्रस्थान करना पड़ता है। मल्लयुद्ध के स्वप्न का फल विजयोत्पादक और अस्त्र युद्ध के स्वप्न का फल कष्ट के साथ विजयदायक होता है। युद्ध क्षेत्र में हाथी, घोड़े और बन्दूकों की भयङ्कर आवाज सुनाई पड़े तो स्वामी की विजय और सुनसान क्षेत्र दिखाई पड़े तो पराजय समझनी चाहिये।

योगी—यदि स्वप्न में किसी योगी के दर्शन हों तो धार्मिक भावों की जाग्रति, धन एवं प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यदि योगी से बातचीत करते हुए अपने को देखे तो सुन्दर वस्तुएँ उपयोग के लिये मिलती हैं, तथा मनोरंजन की सामग्री की प्राप्ति होती है। ध्यानस्थ योगी के दर्शन करने से लौकिक कार्यों में सफलता मिलती है। यदि स्वप्न में योगी का उपदेश सुनाई पड़े तो यश प्राप्ति तथा प्रेमिका मिलन होता है।

रक्त—यदि अपने शरीर से रक्त निकलता हुआ स्वप्न में दिखाई दे तो दैनिक कार्यों में व्यतिक्रम एवं अन्य के शरीर से रक्त निकलता हुआ दिखाई पड़े तो दैनिक कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं। साधारणतया रक्त दर्शन का स्वप्न अच्छा होता है। मतान्तर से रक्त के दर्शन होने से रोग की सूचना समझनी चाहिये।

रंग—स्वप्न में रंगों के देखने से अपमान होता है। साधारणतया हरे रंग का दर्शन स्वप्न में सम्मान सूचक बताया गया है। रंग के स्वप्न का सम्बन्ध मानापमान से है।

रोना—स्वप्न में अपने को रोते हुए देखने से तीन महीने के भीतर अकस्मात् चोट लगती है। और दूसरे को रोते हुए देखने से किसी निकट सम्बन्धी को भयङ्कर बीमारी होती है जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। स्वप्न में बच्चे को रोते हुए देखने से सन्तति कष्ट और वृद्ध को रोते हुए देखने से कुटुम्बियों को कष्ट होता है।

ललितकला—यदि स्वप्न में अपने को ललित कलाओं—वास्तु मूर्ति चित्र, काव्य और संगीत कलाओं का निर्माण करते हुए देखे तो कुछ समय के बाद अच्छा कलाकार होता है। कलाकार के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह स्वप्न में अभीष्ट कला के दर्शन करे। प्राचीन स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार अदृश्य शक्ति कलाकार को भविष्य की सूचना देकर कलाविद् होने के लिये प्रेरित करती है।

लीथो—यदि स्वप्न में लीथो—पत्थर का छापा जिस पर हाथ से लिख कर अक्षर या चित्र छापे जाते हैं, दिखाई पड़े तो मनुष्य कम्पोज़ीटर या प्रेस सञ्चालक बनता है। इस स्वप्न का फल तभी सत्य होता है जब लगातार दस बारह दिन तक आता रहे।

लुटिया—यदि स्वप्न में जल से भरी हुई लुटिया के दर्शन हों तो कहीं शीघ्र यात्रा करनी पड़ती है, जिसमें नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। मतान्तर से जल भरी लुटिया का दर्शन लाटरी से धन प्राप्त करने की सूचना देता है।

लुहार—यदि स्वप्न में काम करते हुए लुहार को देखे तो वायुयान के कारखाने में काम करने की सूचना समझनी चाहिये। साधारणतया यह स्वप्न सैनिक बनने की सूचना देता है।

लूता—यदि स्वप्न में लूता—मकड़ी काटती हुई दिखाई पड़े तो भयानक रोग होता है। मतान्तर से कोई विद्वेषी दर्शक को विषपान कराता है।

लोहा—यदि स्वप्न में लोहा दिखलाई पड़े तो तीन महीने के बाद सुवर्ण की प्राप्ति समझनी चाहिये। लोहे के अस्त्र तथा लोहे की अन्य चीजों के दर्शन हों तो देश के ऊपर किसी प्रकार की विपत्ति की आशङ्का समझनी चाहिये।

वनगज—यदि स्वप्न में वनगज दिखाई पड़े तो घर में सन्तान की उत्पत्ति होती है। यदि मदोन्मत्त वनगज इधर उधर भागता हुआ दिखाई पड़े तो गर्भस्राव हो जाता है। साधारणतया गज के दर्शन स्वप्न में श्रेष्ठ होते हैं।

वनलता—यदि स्वप्न में वनलताएँ हरी भरी दिखलाई पड़ें तो तीन-तीन महीने के भीतर अपरिमित धन मिलता है तथा घर में कन्या रत्न की प्राप्ति होती है। वाटिका की लताओं का यह फल नहीं होता।

वनस्पति—यदि स्वप्न में वनस्पतियों के दर्शन हों तो मालो का कार्य करना पड़ता है। हरी भरी वनस्पतियों के दर्शन प्रेमिका से मिलाने वाले होते हैं।

वर्षा—स्वप्न में पानी की मूसलाधार वृष्टि होते हुए दिखाई पड़े तो व्यापार में लाभ, घरेलू कार्यों में झगड़ा और मित्रों से वियोग होता है।

मत्स्य—यदि स्वप्न में मत्स्य दिखाई पड़े तो अपने कार्य की उन्नति समझनी चाहिये।

सिंह—स्वप्न में सिंह के देखने से धन, प्रताप और पौरुष की वृद्धि होती है। युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के दाँत खट्टे करने योग्य सामर्थ्य मिलती है। मतान्तर से प्रतापी सन्तान की उत्पत्ति होती है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्न-सिद्धान्त की तुलना

यदि तुलनात्मक दृष्टि से पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टिपात किया जाय तो अवगत होगा कि पौर्वात्यों के मतानुसार प्रतीक कल्पना ही सब कुछ है, पर पाश्चात्यों ने प्रतीक कल्पना के अतिरिक्त इच्छाओं की स्वतन्त्रधारा के कारण अतृप्त इच्छाओं के उदय को भी स्वप्न बताया है, इसलिये जिस प्रकार की इच्छा स्वप्न में दिखलाई पड़ती है, उस इच्छा जनित फल भी घट सकता है। जिन इच्छाओं को सार्थकता मिल चुकी है, यदि वे ही इच्छाएँ पुनः स्वप्न में आयें तो स्वप्न निरर्थक होते हैं। इसलिये पाश्चात्य गणकों ने अधिकांश रूप से अतिरंजित इच्छाओं को ही स्वप्न बताया है, अतः जागृतावस्था में भी स्वप्न सन्तति चल सकती है। लेकिन जागृतावस्था की इच्छाएँ संज्ञान इच्छा के आधीन रहने से फलोत्पादक नहीं होती हैं, क्योंकि रुद्ध या अवदमित इच्छाएँ संज्ञात-इच्छा के द्वारा शासित की जाती हैं, अतएव जागृतावस्था की विचारधारा स्वप्न रूप से चलती रहती है, किन्तु इच्छाओं की अनेक रूपता के अभाव में निस्सार होती है। पौर्वात्य स्वप्न-सिद्धान्त के अनुसार जागृतावस्था की विचार सन्तति को स्वप्न का रूप नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इस सिद्धान्त में जागृत, सुषुप्त और स्वप्न ये तीन व्यक्ति की अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। व्यक्ति केवल स्वप्नावस्था में ही स्वप्न देखता है, क्योंकि यह अवस्था जागृति और सुषुप्ति के मध्य की है, इसमें चैतन्य रूप इन्द्रियजन्य ज्ञान अर्द्ध जागृत रहता है अतः स्वप्न सम्बन्धी क्रियाएँ इसी अवस्था में हो सकती हैं। इसीलिये भारतीय सिद्धान्त के अनुसार सभी स्वप्नों का फल एक सदृश नहीं हो सकता है। जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी अधिक विकसित, पवित्र और उज्ज्वल होगी, स्वप्न का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। क्योंकि जो व्यक्ति दुराचारी होगा, वह निरन्तर नाना प्रकार की चिन्ताएँ करता ही रहेगा, अतः स्वप्न में उनका आना स्वाभाविक है। शारीरिक अस्वस्थता के कारण जो स्वप्न आते हैं, वे भी निरर्थक ही होते हैं क्योंकि बीमारी की स्वप्नावस्था दूषित रहती है, उसकी इन्द्रिय जन्य ज्ञानधारा अधूरी रहती है। अतः पौर्वात्यों के मत में जागृतावस्था में स्वप्न सन्तति बन नहीं सकती है। पौर्वात्य और पाश्चात्यों के स्वप्न फल में भी अन्तर है, क्योंकि पौर्वात्यों ने आत्मा एवं पुनर्जन्मादिका

अस्तित्व माना है अत बहुत से स्वप्न जन्म जन्मान्तरार्जित संस्कारों के कारण ही आते हैं, इन स्वप्नों में इच्छाओं की अनेकरूपता कारण नहीं रहती है, किन्तु अदृष्ट या संस्कार ही कारण होते हैं। पाश्चात्यों ने शरीर को एक यन्त्र के समान माना है जिसमें किसी भौतिक घटना या क्रिया का उत्तेजन पाकर प्रतिक्रिया होती है। स्वप्न भी ज्ञानधारा की क्रिया प्रतिक्रिया के कारण आते हैं, इनका सम्बन्ध संस्कारों से कुछ भी नहीं है जैसे जड़ मशीन चलते चलते कभी मन्द और कभी तेज चलने लगती है, ठीक इसी प्रकार बाह्य कारणों से प्रभावित होकर शरीर की क्रियाएँ कभी मन्द और कभी तेज होती हैं। क्रियाओं की मन्दावस्था का नाम स्वप्नावस्था एवं वेगावस्था का नाम सचेतनावस्था—जागृतावस्था है। फ्रायड के मतानुसार मनुष्य का सञ्चालन करनेवाली शक्तियाँ विशुद्ध प्रवृत्ति मूलक हैं जो उसे सदा पूर्णरूप से बाह्याभ्यन्तर प्रभावित करती रहती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का अधिकांश भाग अचेतन मन के रूप में है, जो प्रवृत्तियों का भाण्डार है। इन प्रवृत्तियों में मुख्य रूप से काम की और गौणरूप में विभिन्न प्रकार की वासनाएँ सघटित रहती हैं। इन महासमुद्रीय वासनाओं में कुछ तो तृप्त हो जाती हैं और कुछ अतृप्त रहती हैं अत ये ही अतृप्त वासनाएँ विभिन्न रूप धारण कर स्वप्न के रूप में आती हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि भी मनुष्य की प्रवृत्ति का एक प्रतीक है इसके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं को सफल करता रहता है। चेतन मन नाना प्रकार की कामनाओं को उत्पन्न करता है, ये कामनाएँ बुद्धि द्वारा चरितार्थ की जाती हैं। किन्तु बुद्धि कैसी ही प्रकाण्ड और अभिनव क्यों न हो, एक निमित्त मात्र है, अत समस्त वासनाएँ बुद्धि द्वारा औचित्य सिद्ध नहीं कर पाती हैं, क्योंकि जब प्रवृत्ति ही बुद्धि की प्रेरणात्मिका शक्ति है तब उसकी वह सभी सारी वासनाओं को चरितार्थ करने में असमर्थ रहती है। अत स्वप्न द्वारा ये समस्त अतृप्त वासनाएँ पूर्ण की जाती हैं। पौर्वात्य सिद्धान्त में वासनाओं की तृप्ति के लिये केवल स्वप्न नहीं आते, किन्तु आत्मा का प्रतिबिम्ब शरीरस्थ चन्द्रमण्डल में पड़ने से स्वप्नावस्था में अधिक चञ्चलता रहती है इसीसे आत्मिक क्रियाएँ अधिक तेजी से होती हैं, फलत स्वप्न अनेक रूप में परिणत हो जाते हैं। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शरीर में एक सौर मण्डल रहता है। तथा जिस प्रकार आकाशस्थ सौर-मण्डल भ्रमण करता है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का सौर मण्डल भ्रमण करता है। व्यक्ति जब पैदा होता है, तब उसके उत्पत्ति काल की लग्न ही उसके शरीर के सौर मण्डल की लग्न होती है, इसीलिये ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी फलाफल का तीन वर्ष की आयु तक ठीक नहीं घटता है, क्योंकि तब तक बच्चे के शरीर का सौर मण्डल स्वतन्त्र रूप से भ्रमण नहीं कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस समय तक बच्चे का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं होता है, उसका रहन-सहन दूसरों के ऊपर आश्रित रहता है अत चार वर्ष की अवस्था के बाद ही ठीक फल घटता है। स्वप्न के फल में विशेषता इसी सौर-मण्डल के कारण होती है। जैन ग्रन्थ ज्ञानप्रदीपिका

के स्वप्नकाण्ड में लग्नानुसार[1] स्वप्नों का फल बताया गया है, इसका प्रधान कारण मेरी समझ में यही है कि शरीरस्थ सौर-मण्डल की आकाश गामी सौर-मण्डल के साथ तुलना कर क्रान्ति वृत्तीय लग्नों की समानता स्थिर की गई है। ज्ञानप्रदीपिका का स्वप्न सम्बन्धी प्रकार योग शास्त्र के शरीरस्थ सौर-मण्डलीय प्रकार से मिलता-जुलता है। आचार्य ने इसीलिये "चतुर्थभवनात् स्वप्नं ब्रूयात् प्रश्ननिरीक्षकः" इस पद्य में चतुर्थ भवन को प्रधानता दी है। सारांश यह है कि जहाँ पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्त में केवल अचरितार्थ बौद्धिक प्रवृत्तियों को स्वप्न का कारण बताया है, वहाँ पौर्वात्य सिद्धान्त में आत्मा के चन्द्रमण्डलीय प्रतिबिम्ब को कारण माना है। यह प्रतिबिम्ब सर्वदा, सब के लिये एक समान नहीं होता, बल्कि आत्मा की अशुद्ध अथवा विशुद्ध अवस्था के अनुसार घटित होता है, यही स्वप्न की सत्यासत्य अवस्थाओं के होने का कारण है। दूसरी विशेषता पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्नों के फल में अपनी-अपनी संस्कृति की भी है। इसी कारण कई स्वप्नों के फल पाश्चात्य साहित्य में स्वादिष्ट मांस भोजन, मदिरा सेवन, प्रेमिका संगम और तलाक आदि बताये गये हैं, लेकिन पौर्वात्य स्वप्नों के फल में मांसादि का सेवन कहीं नहीं बताया है। संस्कृति की भिन्नता के कारण स्वप्नों के फल में जमीन आसमान का अन्तर पड़ गया है। एक ही वस्तु के दर्शन का फल दोनों सिद्धान्तों के अनुसार पृथक्-पृथक् होगा, पाश्चात्य सिद्धान्त में इस फल भिन्नता का कोई भी कारण नहीं बताया है, लेकिन भारतीय स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार स्थान विशेष के कारण सौर-मण्डल में अक्षांश, देशान्तर वश अन्तर पड़ जाता है, अतः एक विदेशी का स्वप्न एक भारतीय के स्वप्न की अपेक्षा भिन्न फलदायक होगा। इच्छा अतृप्ति के सिद्धान्तानुसार स्वप्न निरर्थक होते हैं, पर सौर-मण्डलीय सिद्धान्त के अनुसार स्वप्न प्रायः सार्थक होते हैं। यहाँ प्रायः शब्द से मेरा तात्पर्य यह है कि आत्मा की विशुद्ध और अशुद्ध अवस्था वश चन्द्रमण्डल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब में हल्कापन और घनीभूतपन जितना अधिक या कम रहता है फल में भी वैसी हीनाधिकता होती जाती है। प्रतिबिम्ब जितना अधिक चंचल होता है, स्वप्न उतने ही अधिक निस्सार होते हैं। जिस आत्मा का स्थिर प्रतिबिम्ब चन्द्रमण्डल पर पड़ता है उसके स्वप्नों का फल सत्य निकलता है।

स्वप्नोत्पादक कारणों के अतिरिक्त कारण संख्या सम्बन्धी तीसरी विशेषता भी है। पाश्चात्य जगत् स्वप्नोत्पत्ति का एक कारण नहीं मानता, किन्तु विभिन्न वैज्ञानिकों के मतानुसार

१—स्वप्ने यानि च पश्यन्ति तानि वक्ष्यामि सर्वदा। शिरोदये देवगृहं प्रासादादीन् प्रपश्यति ॥
पृष्ठोदये दिनाधीशे विधौ मानुष्यदर्शनम्। मेषोदये दिनाधीशे ज्ञातदेहस्य दर्शनम् ॥
वृषभस्योदयेऽर्कारौ व्याकुलान्मृतदर्शनम्। मिथुनस्योदये विप्रान् तपस्विवदनानि च ॥
कुलीरस्योदये क्षेत्रं शस्यं दृष्ट्वा पुनर्गृहम्। तृणान्यादाय हस्ताभ्यां गच्छन्तीति विनिर्दिशेत् ॥
सिंहोदये किरातञ्च महिषीं गिरिपन्नगम्। कन्योदयेऽपि चारुटे मुग्धस्त्रीकन्यकावधूः ॥
—ज्ञानप्रदीपिका पृ० ४४

कारणों की भिन्नता स्वीकार की गई है। लेकिन भारतीय साहित्य में स्वप्नोत्पादक कारणों की भिन्नता नहीं है। प्रायः सभी विचारक एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। चौथी विशेषता दार्शनिक दृष्टि से आत्मतत्त्व के विषय में विचार करने के कारण चैतन्य और भौतिकवाद सम्बन्धी है। पाश्चात्य लोग स्वप्नोत्पत्ति का कारण भौतिक ही मानते हैं तथा उसका फल भी भौतिक शरीर पर ही पड़ता है, अतः उसका संस्कार आगे के लिये नाम मात्र को भी शेष नहीं रहता है। लेकिन पौर्वात्य सिद्धान्त में आत्मा की अमरता मानी गई है इसके साथ जन्म जन्मान्तर के संस्कार चलते रहते हैं। आत्मा भौतिकता से परे ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य स्वरूप है तथा संस्कार जड़ हैं किन्तु वे अनादिकाल से आत्मा से सम्बद्ध हैं आत्मा और संस्कार इन दोनों का आपस में अति निकट संयोग है, पर स्वभाव दृष्टि से दोनों पृथक् पृथक् हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण हमारे शरीर के सौर मण्डल का संचालन होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का जैसा शुभाशुभ अदृष्ट होता है, वैसे ही सुख, दुःख उसे मिलते हैं। अतः स्वप्न भी उसके अदृष्ट की प्रेरणा से ही आते हैं। अदृष्ट की इसी प्रेरणा के कारण नाना प्रतीक स्वप्न में दृष्टिगोचर होते हैं। कभी कभी यह भी दिखलाई पड़ता है कि जैसा हम स्वप्न में देखते हैं वैसा ही फल शीघ्र घटता है। इसका कारण यह है कि उसमें व्यक्ति की आत्मा स्वप्न देखने के समय अधिक विशुद्धावस्था में थी इसलिये आत्मा का प्रतिबिम्ब स्थिर रूप से रहा। जब प्रतिबिम्ब चंचल रहता है उसी समय अधिक संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं जिससे प्रतीकों की एक श्रेणी बन जाती है और स्वप्न भी प्रतीकों के रूप में दिखलाई पड़ने लगते हैं। भारतीय ज्योतिष शास्त्र में जो प्रातःकाल के स्वप्नों को सत्य फलदायक बताया गया है, उसका कारण भी यही है कि प्रातःकाल के समय सौर मण्डल की गति स्वभावतः स्थिर हो जाती है, अर्थात् रात के १० या ११ बजे से लेकर रात्रि के २-३ बजे तक शरीरस्थ सौर मण्डल की गति में एक रूपता नहीं रहती है, कभी वह तीव्र और कभी मन्द होती है जिससे प्रतिबिम्ब में चंचलता रहती है फलतः स्वप्न भी निरर्थक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल शरीर से और पौर्वात्य का सम्बन्ध आत्मा से है। इसी कारण वेदान्त में जागृत, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय ये चार जीवात्मा की अवस्थाएँ मानी गई हैं। जैन दर्शन के अनुसार दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम की हीनाधिकता से स्वप्न के फलों में भी हीनाधिकता आती है। स्वप्नोत्पत्ति का कारण पूर्वोपार्जित अदृष्ट ही है, जिन स्वप्नों में शारीरिक विकार प्रधान कारण होते हैं वे निरर्थक और जिनमें अदृष्ट कारण होता है वे सार्थक होते हैं।

(समाप्त)

मदन-काम-रत्नम्

[ले०—श्रीयुत पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' आयुर्वेद-व्याकरण-साहित्याचार्य, डुमरांव]

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य पूज्यपाद हैं। आप अनेक विषयों के विद्वान् होने के साथ-साथ आयुर्वेद के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अवलोकन से आपकी आयुर्वेद विषयक विद्वत्ता का पता सहज में ही लग जाता है। यों तो इस ग्रन्थ के कई प्रयोग अन्य ग्रन्थों से मिलते जुलते हैं, पर इसकी निजी विशेषता भी है। इसमें १११ अनुपम उत्तमोत्तमवाजीकरण के सहायभूत १५ सेक-लेपादि भी संकलित हैं। इस तरह सब मिलकर १२६ योग एक-सौ-छब्बीस रत्नों की तरह ग्रन्थ की शोभा बढ़ा रहे हैं। अष्टाङ्ग-आयुर्वेद का यह आठवां अङ्ग वाजीकरण तन्त्र भी आयुर्वेद के लिये सर्वथा एक बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। आज आयुर्वेद में जितने भी रस ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें एक ही जगह इसके सभी अङ्गों पर पूर्णतः प्रकाश डाला गया हो, ऐसा एक भी नहीं। उसमें भी वाजीकरण तन्त्र तो सर्वत्र केवल नाम गिनाने पर्यन्त ही दृष्टिगोचर होता है। 'मदन-काम-रत्नम्' की यह सब से बड़ी विशेषता है कि इसे आद्योपान्त पढ़ लेने पर वाजीकरणयोगों के लिये पुनः अन्यत्र मृगमरीचिका भ्रान्त होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। बल्कि तृप्ति की पराकष्ठा से हृदय नाच उठेगा। यहाँ आप उनमें से कतिपय योगों का निदर्शन देख स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

कामदेव रस

सूतं गन्धं कान्तभस्मापि तुल्यं यामं नीरैः शाल्मलीसम्भवोत्थैः,
गोलं कृत्वा वेष्टयित्वाऽथ माषैराज्ये पक्त्वा काचकूप्यां निधाय।
भूकुष्माण्डं नागवल्ल्योश्च पिष्ट्वा तोयं दद्याद्रात्रिमेकां प्रयत्नात्,
सिद्धः सूतः कामदेवोऽस्य वल्लं मध्वाज्याभ्यां योजयेत्तत्रिसत्तम्।
खण्डं दुग्धं चानुपाने च दद्यात् रात्रौ दुग्धं शक्तिमानेन देयम्,
तिक्तं रूक्षं वर्जयित्वातिचाम्लं पेयं नित्यं शाल्मली नीरयुक्तम्।
खण्डं धात्रीवानरीमूलदुग्ध पुष्टिर्वीर्यं जायते तत्प्रभूतम्,
कुर्यान्नित्यं रम्यकान्ता वनोदं कृत्वा दिव्यं कामदेवं रसेन्द्रम्।

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कान्त-भस्म इन तीनों को समान लेकर सेमल की छाल के रस (रस के अभाव में क्वाथ) से मर्दन कर गोला बनावे और उसे उड़द के गुँधे हुये आटे से परिवेष्टित कर घी में तब तक पकावे जब तक आटे का रंग लाल हो जाय। पुनः उसे आटे से निकाल कर भूकुष्माण्ड और पान के रस के साथ आतशी शीशी मे डालकर लघु वालुका यन्त्र मे रात्रिपर्यन्त पकावे। पीछे प्रात काल गोले को शीशो से निकाल, पोंछकर सुरक्षित रखे। यही सिद्ध 'कामदेव रस' हुआ।

मात्रा —३ रत्ती।

अनुपान —मिश्री की चासनी और घी के साथ मिश्रित कर खाने के पश्चात् खाँड मिला हुआ दूध पिये। और भी रात में जितना दूध पी सके उतना, सेमल का स्वरस अथवा आँवला और केवाँच की जड़ का बारीक चूर्ण मिला हुआ, पिये। रस सेवन काल में तिक्त, कटु और अम्ल पदार्थों का पूर्ण परित्याग कर दे। इस तरह यह क्रम ११ दिन तक व्यवहृत रखे।

[यह योग नित्यनाथ विरचित 'रसरत्नाकर', विष्णु पण्डित विरचित 'रसराजलक्ष्मी, 'रस मुक्तावली', शालिग्राम संगृहीत धन्वन्तरि', और आनन्दानुभव विरचित 'रसदीपिका' में भी मिलता है। किन्तु 'रस दीपिका' में 'मदन कामदेव, नाम से यह रस पाया जाता है।]

कामेश्वर मोदक

सम्यङ्मारितमभ्रक कटुफल कुष्ठाश्वगन्धामृता,
मेथीमोचरसो विदारिमुशली गोक्षुरकेक्षुरका।
रम्भाकन्दशतावरीत्यजमुदा माषास्तिला धान्यकम्।
यष्टी नागबलाकचोरमदन जातीफलं सैन्धवम्।
भार्गी कर्कटशृङ्गि भृङ्ग त्रिकटु द्वे जीरके चित्रकम्,
चातुर्जात पुनर्नवे गजकणा द्राक्षा शठी वामक।
शाल्मलदाडिम फल्गुकिक कपिभव बीज सम चूर्णयेत्—
चूर्णाशा विजया, सिता द्विगुणिता, मध्वाज्यमिश्र तु तत्।
कर्षार्धा वटिका विलेह्यमथवा कृत्वा सदा सेवयेत्,
पेया क्षीर-सिताऽनुवीर्यकरणी स्तम्भेऽप्यलं कामिनाम्।
हृद्यामाशयकर समाधिसुखद सङ्कोऽङ्गद्रावक,
क्षीण पुष्टिकर, क्षय क्षयकर, नानामयध्वंसकं।
कास-श्वासमहातिसारशमन, मन्दाग्नि-दीपन,
दुर्नामांसि ग्रहणीप्रमेहनिचयश्लेष्मातिसारप्रणुत्।
निस्थान स्क्रोतोविशोधकविताथाचा विशामोद्भव,
दत्त मञ्जगुणान् महास्थिरदशा ध्यानावसाने भृशम्—
अभ्यासेन निहन्ति मृत्युपलित कामेश्वरो वत्सरात्।
सर्वेषा हितकारको निगदित श्रीनित्यनाथेन मे।
वृद्धानामपि कामवर्द्धनकर प्रौढाङ्गनासङ्गमे,
सिद्धोऽयो नवसत्यमोघ-सुखदो भूपै सदा सेव्यताम्।
इत्येतदुक्तं बहुवीर्यवर्द्धन राज्ञा सदा क्षीरसितासमन्वितम्।
भुक्तोत्तर सेवितमाशुकामिनां विदग्धरामाकुलवश्यकारकम्।

निश्चन्द्र अभ्रक-भस्म, कायफल, कूठ, असगन्ध, गिलोय, मेथी, मोचरस, विदारीकन्द, मुसली, गोखरू, तालमखाना, केले का कन्द, शतावर, अजमोद, उड़द, तिल, धनियाँ, मुलहठी, नागबला, कचूर, मदनफल, जायफल, सैन्धव, भारङ्गी, काकड़ासिंगी, भाँगरा, त्रिकटु, (सोंठ, मिर्च, पीपल) श्वेत जीरा, श्यामजीरा, चित्रक, तज, पत्रज, इलायची, नागकेशर, पुनर्नवा, गजपीपल, मुनक्का, शन के बीज, अड़ूसा, सेमर का मुसला, आँवला, हर्रें, बहेरा, केवाँछ के बीज—इन सब को बराबर लेकर चूर्ण करे और सब के चतुर्थांश विजया (भाँग) का चूर्ण एवं सब से दूनी मात्रा मे शक्कर मिलाकर यथावश्यक मिश्री-घी मिलाकर गोला बनाले। पश्चात् आधे-आधे तोले की गोलियां बनाकर रख ले अथवा अधिक मात्रा मे मिश्री-घी डाल कर अवलेह बनाकर रख दे। इस तरह तैयार होने पर इसकी कामेश्वर मोदक संज्ञा होगी।

मात्रा:—१ गोली अथवा आधा तोला अवलेह।

अनुपान—गोली अथवा अवलेह सेवन करने के पश्चात् शक्कर मिला हुआ दूध पिये।

उपयोग—इसके सेवन से कामियों के वीर्य की वृद्धि और स्तम्भन होता है। योगियों के लिये यह रसायन समाधि-सुखद है। स्त्रियों को पुरुष सङ्गम मे द्रवित करता है। क्षीणों के लिये पुष्टिदायक है। क्षय-व्याधि को नष्ट करता है। कास, श्वास, घोर अतिसार, मन्दाग्नि, बवासीर, ग्रहणी और श्लेष्मातिसार प्रभृति निःशेष रोगों को दूर कर स्थायी-सौख्य प्रदान करता है। यहाँ तक कि बूढ़ों को भी रति सुख प्रदान करता है।

[यह रसायन-मोदक नित्यनाथ विरचित 'रसायनखण्डम्', अनन्तदेव विरचित 'रस-चिन्तामणि', शान्तिनाथ विरचित रसमंजरी', रामनाथ विरचित 'योगमहार्णव', प्रभृति ग्रन्थों में भी मिलता है। गोविन्ददास संगृहीत 'भैषज्यरत्नावली' में मुख्यतः इसका पाठ संग्रहणी-अधिकार मे मिलता है।]

इस ग्रन्थ के परिचय लेखक ने स्वयं 'भैषज्य रत्नावली' के आधार पर इसे बनाकर संग्रहणी के रोगियों पर अनुभव किया है। वस्तुतः यह मोदक अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ है।

'भैषज्य रत्नावली' के एक हिन्दी अनुवादक ने इस रस को तन्त्रान्तर मे 'महाकामेश्वर' नाम से भी मिलने की चर्चा की है।

पूर्णचन्द्ररस

हैमी भूतिः सूतभूत्या समाना तद्वद्धाला गन्धकं मौक्तिकञ्च,
घस्रैकं तं शृङ्गवेराग्नितोयैः मर्द्यः शोष्यो वस्त्र मृद्भ्यां प्रवेष्ट्य।
भाण्डके सलवणके क्षिपेच्च तद्गोमयेन परिवेष्ट्य भाजनम्,
शोषयेच्च पुटयेत्तृणाग्निना पूर्णचन्द्र इति जायते रसः।
यक्ष्माणां जयति प्रसह्य चपलाक्षौद्रान्वितः शूलनुत्,
सामुद्रेण ससर्पिषा ससितया धात्र्यास्लपित्तापहः।

शूलघ्नत्र्यणुयुतो जयत्यपि महातापञ्च पित्तोद्भवम्,
शाल्मल्यम्बुगुडूचिकाम्बुसहितं पाण्डुं सितासंयुतः ।
पुष्टि-दृष्टि बलवीर्यवर्द्धनो जायतेऽखिलगदापहारकः,
स्त्रीगदापहरणः शिशुरक्षाकारकः, स्वगदजानुपानकैः ९ ।

स्वर्ण, पारद की भस्में, शुद्ध वत्सनाग विष, शुद्ध गन्धक और मोती की भस्म—इन सब को सम भाग लेकर अदरख और चित्रकमूल के रस (अथवा क्वाथ) से एक एक दिन मर्दन कर गोला बना सुखाले, पुनः उस गोले पर चार तह कपड़ा लपेट ऊपर से कपडमिट्टी कर अच्छी तरह सुखावे। पश्चात् उसे लवण के भीतर बन्द कर, गोबर में बर्त्तन के मुख को बन्द कर भली भाँति सुखाने के अनन्तर निर्वात स्थान में उस पर इतने घास की अग्नि दे कि कपड़ा जल जाय। पीछे स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर रख ले। इस तरह इस सिद्ध रसायन को 'पूर्णचन्द्र रस कहते' हैं।

अनुपान— यक्ष्मा में—पीपल और मिश्री की चासनी।
" शूल में—सेंधव, घी और शक्कर।
" अम्लपित्त में – आमले का रस।
" पित्तजदाह में—गुडूची का हिम अथवा क्वाथ।
" पाण्डु में—सेमल की छाल और गुडूची का क्वाथ।
" नेत्र ज्योति, बल, वीर्य और पुष्टि के लिये—शक्कर।

इसी तरह स्त्री और बालकों के विविध रोगों पर यथायोग्य अनुपान के साथ इस रसायन के उपयोग से आश्चर्यजनक फल प्राप्त होता है।

[यह योग रसावतार, रसदीपिका, रसचन्द्रिका, प्रभृति रस ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। रसचण्डांशु, रसप्रकाश एवं रस सुधाकर में भी यह योग दीख पड़ता है, किन्तु उनमें आये हुये योगों में विष एवं मोती भस्म का पाठ नहीं मिलता है। और उनकी जगह नाग भस्म प्रक्षिप्त पाया जाता है। भावना की जगह उन ग्रन्थों के पाठ में केवल चित्रक मूल का क्वाथ ही दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः दोनों ही पाठ उत्तम प्रतीत होते हैं। फिर भी वाजीकरण मात्र के लिये निर्माण किये जाने वाले योगों में मोती और विष की जगह अगर नागभस्म का उपयोग किया जाय तो विशेष सुन्दर हो, किन्तु भावना किसी एक या दोनों द्रव्यों से भी दोनों योगों में दी जा सकती है]

अस्तु, निदर्शन के लिये सहृदय पाठकों के समक्ष ये तीन योग प्रस्तुत किये गये हैं। ऊपर मैंने प्रकृत ग्रन्थ में जिन १११ योगों के आने की चर्चा की है, वे सभी इसी तरह अनुभव सिद्ध हैं। यह ग्रन्थ मुझे श्री जैन सिद्धान्त भवन के पुस्तकाध्यक्ष के अनुग्रह से मिल सका है। मेरा विचार है कि मैं यथाशीघ्र इसका हिन्दी अनुवाद कर कृपालु आयुर्वेद के प्रेमियों के समक्ष रख सकूँ।

मूलाचार के कर्त्ता वट्टकेरि

[ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों के आचार विषयक ग्रन्थों की बहुत कमी है। प्राचीन ग्रन्थों में ले देकर मूलाचार ही एक ग्रन्थ उपलब्ध है। वीरनन्दि का आचार-सार और आशाधर का अनगारधर्मामृत आदि पिछले ग्रन्थ इसी के आधार से लिखे हैं। धवला टीका के कर्त्ता वीरसेन स्वामी ने मूलाचार का ही आचारांग नाम से उल्लेख किया है।

इसके कर्त्ता का नाम 'वट्टकेरि' आचार्य है। परन्तु उनके विषय में अभी तक यह नहीं मालूम हुआ कि वे कब हुए हैं, उनकी गुरुपरम्परा क्या है और वे कहाँ के थे। उनका यह नाम भी कुछ अद्भुत-सा है। मैं बरसों से सोच रहा था कि आखिर यह कैसा और कहाँ का नाम है।

अभी उस दिन कनड़ी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि बेट्टगेरि कृष्णशर्मा का नाम एक पत्र में पढ़ा, तो मूलाचार कर्त्ता के नाम पर एकाएक प्रकाश पड़ गया।

कवि कृष्णशर्मा के गदग (धारवाड़) के पास के बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्राम के रहने वाले हैं और बेट्टगेरी का उच्चारण बेट्टकेरी भी होता है।

कर्नाटक में और उसके दक्षिण में गाँवों के नाम व्यक्ति के नाम के पहले लिखने की पद्धति बहुत समय से है। कर्नाटक प्रान्त के पंडित के० भुजबली शास्त्री, के० कुमारय्या शास्त्री, जैन समाज में सुपरिचित हैं, इनके नामों के प्रारंभ के 'के०' आदि अक्षर इनके मूल ग्रामों के ही द्योतक हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन के नाम का 'सर्वपल्ली' अंश उनके गाँव का ही बोधक है।

इससे मुझे कल्पना हुई कि वट्टकेरि नाम भी गाँव का बोधक होना चाहिए और मूलाचार के कर्त्ता बेट्टगेरी या बेट्टकेरी ग्राम के ही रहने वाले होंगे और जिस तरह कोण्डकुण्ड के रहने वाले आचार्य कोण्डकुन्द तथा तुम्बुलूर ग्राम के रहने वाले तुम्बलूराचार्य कहलाये उसी तरह ये वट्टकेरि कहलाने लगे। इनका मूल नाम क्या था, सो तो लोग भूल गये, सिर्फ नाम का यह अंश बच रहा।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने मुझे बतलाया है कि कनड़ी में 'बेट्ट' छोटी पहाड़ी को और गेरी या केरी गली या मोहल्ले को कहते हैं। बेलगाँव और धारवाड़ जिले में इस नाम के गाँव अब भी मौजूद हैं।

पं० मुब्बय्या शास्त्री से मालूम हुआ कि श्रवण बेल्गोल का भी एक मुहल्ला बेट्टगेरि नाम से प्रसिद्ध है।

कारकल के हिरियगदि बस्ति के पद्मावती देवी के मन्दिर के एक स्तंभ पर श० सं० १३९७ (वि० सं० १५३२) का एक शिलालेख है जो कनड़ी भाषा में है[1]। इस लेख में 'बेट्टकेरि' गाँव का नाम दो बार आया है और वह कारकल के पास ही कहीं होना चाहिए।

सो हमारा अनुमान है कि मूलाचार के कर्त्ता वट्टकेरि भी उक्त नाम के गाँवों में से ही किसी गाँव के रहने वाले होंगे।

१—साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स जिल्द ७ मंजेश्वर के विद्वान् एम० गोविन्द पै द्वारा इस लेख की सूचना मिली है।

समीक्षा

भगवान् महावीर का अचेलक धर्म—लेखक : श्री पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी; प्रकाशक : मंत्री प्रकाशन विभाग, भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या : ३५; मूल्य: पाँच आने। छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर।

यह शास्त्रीजी का वही निबंध है, जो वीर शासन महोत्सव पर पढ़ा गया था। इसमें विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रम कर अन्वेषणात्मक ढंग से अचेलक धर्म का समर्थन किया है। निबंध से आपकी प्रौढ़ विद्वत्ता, जैन शास्त्रों का तलस्पर्शीज्ञान एवं अन्वेषण शक्ति का पता भली भाँति लग जाता है। आपने प्रथम श्वेताम्बर आगमों के पर्याप्त प्रमाण देकर अचेलक धर्म की पुष्टि की है। समाज में कुछ समय से स्त्री-मुक्ति, सचेल-संयम आदि की चर्चा जोरों से चल रही है। इसी चर्चा के फलस्वरूप लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् लेखक ने आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन, आचाराङ्ग सूत्र और दशवैकालिक सूत्र इत्यादि प्रसिद्ध श्वेताम्बर आगमों के प्रमाण ज्यों के त्यों उद्धृत कर अचेल-संयम का समर्थन किया है। शास्त्रीजी के निबन्ध से स्पष्ट सिद्ध है कि अर्वाचीन श्वेताम्बर आगम ग्रंथों के टीकाकारों ने सवस्त्र-संयम का विधान किया है। तथा इस काल में भी अचेलक साधु ही श्रेष्ठ समझे जाते थे; पर धीरे-धीरे समय के प्रभाव और हठवादिता के कारण लोग सचेल-संयम की पुष्टि करने लगे। शास्त्रीजी ने दिगम्बर आगमों के प्रमाणों से भी अचेलक धर्म को ही सिद्ध किया है। आजकल के कुछ विद्वान् श्रुतसागरीवृत्ति और भगवती आराधना के आधार पर दिगम्बर जैन ग्रंथों में भी सचेल-संयम का विधान सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु शास्त्रीजी ने उपर्युक्त ग्रंथों के विवादास्पद स्थलों को लेकर बड़े सुंदर ढंग से तर्कपूर्ण विचार कर अचेलक धर्म को पुष्ट किया है। हमारा ख्याल है कि इस निबंध से जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान हो जायगा। सर्वार्थसिद्धि की "भावलिङ्गं प्रतीत्य पंचापि निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति, द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः" इस पंक्ति सम्बन्धी शंका का निराकरण भी अत्यन्त सरल और सौम्य शब्दों में किया है। समाज में कुछ समय से जो अप्रिय सचेल-अचेल संयम की शंका उठी है, उसका अन्त तो शास्त्रीजी के इस निबंध से हो जाना चाहिये। प्रत्येक विद्वान् और स्वध्याय-प्रेमी को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। समाज शास्त्रीजी का अत्यन्त आभारी है।

ब्र० पं० चन्दाबाई

सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ—संयोजक और अनुवादक श्री प० जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर', प्रकाशक वीर-सेवा-मंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर, साइज डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या १२+७६, मूल्य आठ आने।

इस पुस्तक में संयोजक महोदय ने गौतम गणधर, भद्रबाहु, गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुंदकुंद, उमास्वाति, समंतभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, पात्रकेसरि, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदि, अनंतवीर्य, प्रभाचन्द्र, वीरसेन, जिनसेन एवं वादिराज के स्मरण संकलित किये हैं। कलम के धनी मुख्तार साहब ने सरल, सौम्य और मुहावरेदार भाषा में श्लोकों का अनुवाद किया है। ग्रंथ के आरम्भ में विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है। आपने बताया है कि "सत्साधुओं का स्मरण बड़ा ही मंगलदायक होता है। 'चत्तारि मंगलं' में साहू मंगलं पद के द्वारा साधुओं को भी मंगलमय निर्दिष्ट किया है।" इससे स्पष्ट है कि साधुओं के पुण्यगुणों के स्मरण से आत्मा पवित्र हो जाती है, पापों से रक्षा होती है। आत्मोन्नति के लिये प्राणी अग्रसर होते हैं। मुख्तार साहब ने इन स्मरणों का संग्रह कर समाज का बड़ा भारी उपकार किया है, थोड़े पढ़े-लिखे स्वाध्याय प्रेमी भी आत्म विशुद्धि कर सकते हैं। इन स्मरणों से आत्मा तो पवित्र होती ही है, किन्तु अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। छपाई सफाई, गेटप आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। हमारे खयाल से यह संकलन दैनिक पाठ करने के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

सिद्धान्त-समीक्षा भाग—१—यह पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० हीरालालजी के लेखों का संग्रह है। ये सभी निबन्ध जैन सन्देश में प्रकाशित हो चुके हैं, पर हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय के अध्यक्ष प० नाथूरामजी प्रेमी ने इन्हें एकत्रित कर प्रकाशित किया है। इनसे दिगम्बर शास्त्रों की विवादास्पद कई मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। निबन्ध अन्वेषणात्मक ढंग से उद्धरण सहित लिखे गये हैं। इस संग्रह से वेद वैषम्य सम्बन्धी चर्चा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है, साधारण हिन्दी भाषा भाषी जनता भी महत्त्व पूर्ण शास्त्रीय विषयों को सरलता से विचार सकती है। दोनों ही विद्वान् लेखकों ने प्रबल युक्तियों से अपने अपने पक्ष की पुष्टि की है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसे हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई से मंगाकर पढ़ना चाहिये।

सिद्धान्त-समीक्षा भाग—२—प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई, साइज डबल क्राउन सोलह पेजी, मूल्य १) रुपया।

यह पंडित जीवन्धरजी शास्त्री और डॉ० हीरालालजी के उत्तर, प्रत्युत्तर और तद्विषयक अन्य लेखों का संग्रह है। इन निबन्धों से जैन सिद्धांत की अनेक सूक्ष्म बातों पर प्रकाश

पड़ता है। दोनों ही विद्वानों ने शका समाधान के रूप में स्त्री-मुक्ति, और केवली-भुक्ति पर विचार-विनिमय किया है। साधारण जनता के लिये भी यह पुस्तक उपयोगी है; विवादास्पद स्थलों पर विचार-विनिमय करने के लिये पर्याप्त सामग्री इन निबन्धों में है। प्रोफेसर साहब के नवीन अन्वेषण ने विद्वानों को गम्भीर विचार करने का अवसर प्रदान किया है। दोनों ही पक्ष के लेख पठनीय हैं। प्रेमीजी ने एकत्रित संग्रह प्रकाशित कर जनता का कल्याण किया है। विचारक विद्वानों को अवश्य मगाकर देखना चाहिये। पुस्तक की छपाई-सफाई अच्छी है।

अपभ्रंश-दर्पण———लेखक : श्री जगन्नाथराय शर्मा एम० ए०, गोल्ड मेडलिस्ट, प्रोफेसर पटना-कालेज, पटना; प्रकाशक : साहित्य-सुमन-माला कार्यालय, बांकीपुर, पटना; साइज : डाबल क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या : २ + २ + ८ + १७५; मूल्य : एक रुपया, आठ आना।

हिन्दी में यह अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में अभी तक कोई भी परिचयात्मक पुस्तक नहीं लिखी गई है। इसके द्वारा लेखक ने एक बड़ी भारी कमी की पूर्ति की है। प्रोफेसर साहब ने अपनी विद्वत्ता पूर्ण भूमिका में बताया है कि भारत में बहुत वर्ष तक अपभ्रंश भाषा राष्ट्रभाषा एवं साहित्य भाषा के पद पर आसीन रही है। यह अत्यन्त मधुर और सरस भाषा है। पुस्तक के प्रारम्भ में अपभ्रंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने इस बात को बतलाने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश भाषा साहित्य में १००० ई० सन् तक प्रयुक्त होती रही। आगे इसी अपभ्रंश से मराठी, गुजराती, बङ्गला आदि भाषाओं का जन्म हुआ बताया गया है। 'अपभ्रंश-साहित्य का महत्त्व और सौष्ठव' शीर्षक में लेखक ने बताया है कि "हिन्दी की जननी होने के नाते तो अपभ्रंश भाषा हमारे सम्मान की वस्तु है ही, उसका साहित्य भी कम महत्त्व नहीं रखता है। यद्यपि इसका अधिकांश भाग हमें उपलब्ध नहीं और जो उपलब्ध है भी वह प्रायः अप्रकाशित है, तथापि जो कुछ प्रकाशित है, उससे ही उसके महत्त्व की पर्याप्त सूचना मिलती है। हिन्दी का कौन कवि है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसके साहित्य से प्रभावित न हुआ हो ? चन्द से लेकर हरिचश्न्द्र तक तो उसके ऋण भार से दबे है ही, आजकल की नई-नई काव्य पद्धतियों के उद्भावक भी विचार कर देखने पर उसकी परिधि से बहुत बाहर न मिलेंगे।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी के प्राय. सभी कवि अपभ्रंश भाषा के साहित्य से प्रभावित है और उसी के आधार पर रचनाएँ करते है। लेखक ने स्वयं आगे उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध किया है कि जैन ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' के आधार पर हिन्दी के रामचरितमानस और पद्मावत जैसे जगत् प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे गये है। इसीका समर्थन करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार जायसी और तुलसी ने कतिपय ३२ मात्राओं वाली चौपाइयों की अर्धालियो के बाद ४८ मात्राओं वाले दोहे रखे हैं, ठीक उसी प्रकार

३२ मात्राओं की अर्धालियों वाले पज्झटिका का या अरिल्ला नामक छन्दों के बाद धनपाल ने ६२ मात्राओं वाला घत्ता नामक छन्द रखा है। जिस प्रकार जायसी और तुलसी में तुकों की लड़ी हर एक चरण के अन्त में कम से कम प्रत्येक दो चरणों में मिलती है, उसी प्रकार धनपाल में भी। इस प्रकार रचना दृष्टि से इन तीनों ग्रन्थों की पद्धति बिल्कुल एक है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि हिन्दी के कवि अपभ्रंश के रचयिता जैन कवियों के ऋणी हैं। जैन कवियों ने विपुलमात्रा में अपभ्रंश साहित्य की रचनाएँ कर हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति में सहायता पहुँचाई है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अपभ्रंश व्याकरण दिया गया है, इससे अपभ्रंश के विद्यार्थियों को तो लाभ होगा ही, पर साधारण पाठक भी लाभ उठा सकते हैं। इसमें विभक्ति चिह्न, लिंग, वचन, कारक, अव्यय एवं क्रियाएँ आदि व्याकरण के विषयों का बड़ा सुंदर विवेचन किया है। अपभ्रंश साहित्य में प्रगति करने के लिये यह दूसरा भाग बड़ा उपयोगी है। तृतीय भाग में अपभ्रंश ग्रन्थों से टैक्स्ट पाठ उद्धृत किये हैं, जो परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हैं। लेखक ने इन अवतरणों का हिन्दी अनुवाद भी पृथक् किया है, इससे इनकी उपयोगिता और बढ़ गई है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, प्रत्येक साहित्य प्रेमी को मगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई-सफाई सुंदर है।

ईश्वरोपालम्भः (खण्डकाव्यम्)—लेखक श्री पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न, प्रकाशक कातकुटीर, आरा, पृष्ठ संख्या २७, मूल्य सद्भावनामात्र।

यह एक खण्डकाव्य है, ललित श्लोकों के साथ कवि ने स्वोपज्ञ-वृत्ति भी लिखी है। इसमें विद्वान् लेखक ने ईश्वर को उलाहना दिया है कि हे भगवन् यदि तुम्हारा संसार में नियन्ता रूप से अस्तित्व है तो तुम किसीको दुःखी, किसीको सुखी, किसी को दरिद्री, किसीको धनी, किसीको मूर्ख, किसीको पण्डित, किसीको कार्य कुशल और किसीको बुद्धू क्यों बनाते हो ? यह सारा संसार दिन रात दुःख की भट्टी में जलता रहता है, और भगवन् आप कुछ नहीं करते हैं। क्या आपका यही न्याय है कि धनी, पापाचारी सुखी रहें और निर्धन सदाचारी भी दिन रात विपत्तियाँ सहन करते रहें। कवि ने भक्ति रस के आवेश में आकर कहीं कहीं ईश्वर की पर्याप्त भर्त्सना की है, लेकिन काव्य की दृष्टि से यह भर्त्सना भी व्याजस्तुति के रूप में है, अतः प्रकारान्तर से इसमें ईश्वर की जगन्नियन्ता के रूप में स्तुति की गई है। बीच-बीच में कवि ने दार्शनिक पुट भी दिये हैं। वेदान्त-दर्शन, वैशेषिक न्याय एवं सांख्य-दर्शन के संक्षिप्त सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। कवि ने ईश्वर के विभिन्न आकारों में दर्शन किये हैं, प्रकृति के साथ ईश्वर की समानता भी दिखाने की चेष्टा की है। प्रसंगवश बीच बीच में कृषक, मजदूर आदि की दीन दशा का भी चित्राङ्कन किया है। कवि प्राचीनता का पोषक होते हुए भी आधुनिक प्रगतिवाद का समर्थक है। श्लोक अत्यन्त मधुर और सरस हैं, पढ़ते समय मन को अपूर्व आह्लाद मिलता है।

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[२७-५-४४—१३-६-४५]

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा ३४ वर्षों से जैन समाज की ही नहीं, अपितु साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तिमात्र की सेवा करता चला आ रहा है। इस भवन ने इस वर्ष भी कितनी ही साहित्यिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के प्रकाशन कार्य में साहाय्य प्रदान किया है। जैन संस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष हाथ है। अनेक अलभ्य ग्रन्थरत्नों के संग्रह के साथ साथ पुरातत्त्व विषयक अन्य सामग्री का भी संग्रह किया जा रहा है। इस वर्ष वीर संवत् २४७० ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी से वीर संवत् २४७१ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ४०७२ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी इससे कहीं अधिक होगी। विशिष्ट दर्शकों में निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :—

श्रीमान् प्रो० विश्वनाथजी एम० ए० पटना-कालेज पटना, श्रीमान् पं० रामसुचरित्र राजज्योतिषी डुमरॉव, श्रीमान् पं० फूलचंद्रजी सिद्धांत-शास्त्री बनारस, श्रीमान् पं० राजकुमार-जी साहित्याचार्य बनारस, श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, श्रीमान् पं० रजनी-कान्तजी शास्त्री, साहित्य भूषण, बी० ए०, बी० टी० बक्सर, श्रीमान् धर्मप्रियजी शास्त्री एम० ए०, राष्ट्रवाणी पटना, श्रीमान् प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दू वि० काशी, श्रीमान् मूलचंद किसनदासजी कापड़िया सूरत, श्रीमान् परमजी वेदालंकार, प्रिंसिपल गुरुकुल वैद्यनाथधाम, श्रीमान् प्रो० रामव्यासजी ज्योतिषाचार्य हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, श्रीमान् पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' साहित्याचार्य, संस्कृत कालेज डुमराँव एवं श्रीमान् डी० एन० वर्मा एडवोकेट हाईकोर्ट पटना। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य शुभ सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

पाठकः—भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते है। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रंथ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसीलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पडता है। इनके लिये हर तरह से सुविधाएँ भी दी जाती है। इनके अतिरिक्त अपवाद रूप में विशेष नियम से जिन-जिन खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रंथ दिये गये है उन ग्रंथों की संख्या ४०७ है। इन ग्रंथों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र-जी सिद्धांत-शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांत-शास्त्री जयधवला कार्यालय बनारस, श्रीमान् बा० उमाकान्त प्रेमचन्द्र शाह बड़ौदा, श्रीमान् पं० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा, श्रीमान् पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, श्रीमान् बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली, श्रीमान् बा० कामताप्रसादजी

अनीगज, श्रीमान् प० मौजीलालजी शास्त्री नागौर, श्रीमान् प० रामप्रसादजी शास्त्री अध्यक्ष ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई, श्रीमान् प० के० भुजबलीजी शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री, श्रीमान् प्रो० शेषय्यगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी मद्रास, श्रीमान् सेठ ईश्वरदास पाजरापोल अहमदाबाद, श्रीमान् हरिलाल जीवराज भाई राजकोट सदर, श्रीमान् प० जनार्दन मिश्र वेदाचार्य, सस्कृत कालेज डुमराँव एव श्रीमान् प० रामनाथ पाठक व्याकरण साहित्य आयुर्वेदाचार्य, डुमराँव आदि बाहर के विद्वानों ने लाभ उठाया है। भारतीय ज्ञानपीठ बनारस एव स्थानीय जैन कालेज ने तो भवन के सग्रह से सर्वाधिक लाभ उठाया है।

सग्रह पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित सस्कृत, प्राकृत हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड एव बगला आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के चुने हुए १६६ और अग्रेजी के १७ इस प्रकार कुल १८२ ग्रथ सग्रहीत हुए है। अन्यान्य भाषाओं की पत्र पत्रिकाओं की फाइलों की सख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में श्री समाज आरा, श्रीमान् प० नागराजजी शास्त्री हुम्मुच, श्रीमान् प्रो० जगन्नाथराय शर्मा एम० ए० पटना कालेज पटना, श्रीमान् डॉ० देवराजजी एम० ए०,डी० फिल् जैन कालेज आरा, श्रीमान् बा० बच्चूलालजी आरा, श्रीमान् प० रजनीकान्तजी शास्त्री, बी० ए०, बी० टी० बक्सर एव आर्कियोलाजिकल मैसूर आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

इस वर्ष शास्त्र प्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा। इसके दो कारण है, पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा सस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। अनस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से विशेष लाभ नहीं होता है। बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी प० के० भुजबलीजी शास्त्री की अध्यक्षता में मूडबिद्री से कर्मप्रकृति आराधनासार और चतुर्विंशति तीर्थङ्करावना ये तीन ग्रथ लिखवा कर मगवाये गये। श्री नागराजजी शास्त्री ने एक कन्नड़ भाषा में पूजा और स्तोत्रों का सग्रह स्वलिखित भवन को प्रदान किया।

प्रकाशन भवन के इस विभाग में 'जैन सिद्धान्त भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। प्रसन्नता की बात है कि 'भास्कर', उत्तरोत्तर लोक प्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते है। श्रीमान् प० रजनीकान्त शास्त्री बी० ए०, बी० टी० के शब्दों में भास्कर भवन की ही सम्पत्ति नहीं बल्कि समस्त बिहार प्रान्त की एक ऐतिहासिक निधि है। भवन की गतिशीलता का एकमात्र ज्वलन्त प्रमाण इस सस्था का मुख पत्र है। इस प्रकार आपने 'भास्कर' की भूरि भूरि प्रशसा की। इस वर्ष कागज नियन्त्रण की असुविधा के कारण अन्य प्रकाशन का कार्य नहीं हो सका।

परिवर्तन इस वर्ष भवन के प्रकाशन से लगभग ६० ६५ ग्रथ परिवर्तन में लिये गये। श्रीमान् प० सुखलालजी के मुख्यत्व मे मुनि पुण्यविजय की द्वारा सम्पादित

समस्त बहुमूल्य ग्रंथ भवन को 'भास्कर' की फाइलों के परिवर्तन में मिले। निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाएँ भी 'भास्कर' के परिवर्तन में भवन को प्राप्त होती रहीं :—

(1) The Indian Culture, (2) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (3) The Journal of the university of Bombay (4) The Karnatak Historical Review, (5) The Adyar Library Bulletin, (6) The Journal of Annamalai University, (7) The Poona Orientalist, (8) The Journal of the United Provinces Historical Society, (9) The Quarterly of Mythic Society, (10) The Punjab Oriental research, a Quarterly Journal, (11) The Journal of the royal Asiatic Society of Bengal, (12) The Journal of the royal Asiatic Society of Bombay, (13) The Fergusson College Magazine, (14) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (15) The Journal of the Benares Hindu University, (16) The Andhra University College Magazine and Chronicle, (17) The Journal of the Sri Venkatesvara Oriental Instute, (18) The Journal of the Sind Historical Society, (19) The Journal of Tanjore Sarasvati Mahal Library, (20) The Bombay Theosophical Bulletin, (21) The Jain Gazette, (22) The Indian Literary Review, (23) The Journal of the Ganganath Jha Research Institute Allahabad.

हिन्दी : (२४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२५) विश्वभारती—शान्तिनिकेतन (२६) विश्वभारती—लखनऊ, (२७)भारतीय विद्या, (२८)साहित्य सन्देश, (२९) अनेकांत, (३०) सम्मेलन-पत्रिका, (३१) किशोर, (३२) वैद्य, (३३) धर्मदूत, (३४) जैन महिलादर्श, (३५) दिगम्बर जैन, (३६) जैन बोधक, (३७) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—जयपुर, (३८) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—इन्दौर, (३९) वीर, (४०) भारतीय समाचार; (४१) आजकल, (४२) जैन मित्र, (४३) जैन सन्देश, (४४) जैन गजट।

गुजराती : (४५) जैन सत्यप्रकाश।

संस्कृत : (४६) मैसूरु महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका, (४७) सूर्योदय, (४८) संस्कृतम्।

कन्नड़ : (४९) जय कर्णाटक (५०) शरण साहित्य, (५१) विवेकाभ्युदय।

तेलगु : (५२) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

इनके अतिरिक्त भवन में The Indian Historical quarterly, विशालभारत, सरस्वती, हिन्दी अनुशीलन पत्रिका, साप्ताहिक संसार, दैनिक संसार, Patna times आर्यावर्त पूरे मूल्य देकर तथा जीवन साहित्य अर्ध मूल्य देकर मगाये गये है। दैनिक राष्ट्रवाणी और नवशक्ति श्रीमान् बा० रघुनन्दनप्रसादजी मिश्रटोला आरा की ओर से तथा Searchlight देवाश्रम आरा से और दीदी एवं साप्ताहिक योगी संचालिका जैन-बालाविश्राम आरा से भवन को मिलते रहे है। एतदर्थ उपर्युक्त महानुभावों का भवन आभारी है।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रंथ　इस वर्ष जैन सिद्धान्त भास्कर में समालोचनार्थ विभिन्न भाषाओं के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—

(१) स्वर्गीय हेमचन्द्र, (२) वैदिक ऋषिवाद, (३) अनित्यभावना, (४) श्रीरामचरितम्, (५) सत्साधुस्मरण मंगलपाठ, (६) दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण, (७) भगवान् महावीर का अचेलक धर्म, (८) वैष्णवधर्म, और आर्यसमाज, (९) अहिंसाधर्म और धार्मिक निर्दयता, (१०) नवीन मूल रामायण, (११) जैन बोधकाचा इतिहास, (१२) वाचक उमास्वाति का सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय, (१३) चौबीस तीर्थंकरों की ज्ञातव्य बातों का नक्शा, (१४) मक्शी पार्श्वनाथ, (१५) कुण्डलपुर महावीर पूजन, (१६) कुण्डलपुर महावीर परिचय, (१७) आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र आदि।

पत्र व्यवहार　भवन तथा भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य, ज्योतिष, धार्मिक आदि गम्भीर विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भवन से दिया गया है, जिन से बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है।

साहित्यिक तथा धार्मिक सभाएँ —इस वर्ष भवन में आरा साहित्य-मण्डल, जिला-साहित्य सम्मेलन के साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त साहित्य मण्डल का वार्षिक अधिवेशन, कवि सम्मेलन आदि विशेष साहित्यिक सभाओं के साथ महावीर जयन्ती आदि धार्मिक सभाएँ भी अधिक समारोह के साथ मनाई गई हैं। महीने में एकाध साहित्यिक सभा प्रायः भवन में होती ही रहती है। इस प्रकार भवन अपने इस वर्ष में साहित्यिक संस्थाओं के प्रकाशनादि कार्य में निरन्तर सहयोग प्रदान करता रहा।

मंत्री
जैन-सिद्धान्त भवन, आरा।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI JULY, 1945 No I

Edited by

Prof Hiralal Jain M A., LL.B D Phil
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain, M R A S D L
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 6d Single Copy Rs 1/8

CONTENTS:



Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol XI No 1 | ARRAH (INDIA) | July, 1945,

IDENTIFICATION OF TAVANIDHI

By

S Srikantha Sästrı M A

Dr A N Upādhye has suggested[1] that Tavandı, near Nıpānı in the Belgaum Dıstrıct ıs the famous Jaına holy place mentıoned by Nayaśena ın his Dharmāmṛta (1112 A D) It ıs admıtted that the ımage of Pārsvanātha ın the lower *pitha* once belonged to a dıfferent place, somewhere near Hukeri and was ınstalled at Tavandı ın 1880 A D This ımage belonged to a *basadı* constructed by Ruvārı Jinnōja on the orders of Lacceyą Dōvı, the grandmother of Senarasa who was a dıscıple of Vıranandı Sıddhānta Cakravartı Deva of the Mūla Saṃgha Dēsıya gaṇa and Pustaka gaccha Dr A N Upādhye is of the opınıon that this Vīranandin[2] ıs the same as the author of *Ācāra Sara* (1154 A D) This ınscription therefore does not help us to determıne the ıdentıty of Tavandı The other ımage of Pārśva on the upper *pitha* probably belonged to some basadı of the Dravıḍa Saṃgha We do not know any other ınscrıptıon of the place mention ıng ıt as a centre of Dravıda Saṃgha nor does any ınscrıptıon of that place mentıon ıts old name

1 *Jaina Antiquary* X p 51

2 Another Vıranandın of Mūla Saṃgha Desigaṇa Pattage valı ıs mentıoned ın the ınscrıptıon at Nandı Behur (*S I I* IX, pt. I no 115) His dıscıple Aṭṭopavāsı was ın charge of the basadı constructed ın 1054 A D (Saturday December 24)

A CRITICAL EXAMINATION OF ŚVETĀMBARA AND DIGAMBARA CHRONOLOGICAL TRADITIONS

By

Prof—H. C, Seth, M.A Ph, D. (London)

(*Coantinued from Vol X, page 48*)

Then comes Vikramāditya Vikramāditya according to the Jain traditions was the son of Gardabhila[1]. Vikramāditya and his dynasty can therefore be treated as the Gardabhilas. Merutuṅga's Vicārṣrenī gives 135 years to Vikramāditya and his dynasty or 152 years to the whole Gardabhila dynasty including the inter-regnum of 4 years for the Śakas. After the Gardabhila dynasty comes the Śaka king. This happened 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa. Tittha-golīpainnya ofter Nahvāna's 40 years assigns 100 years to the Gardabhas, by which apparently Gardabhilas are meant. No mention is made here separately of Gardabhila, the Śakas or Vikramāditya. According to this tradition one hundred years assigned to the Gardabhas, perhaps, cover the thirteen years of Gardabhila, four of the Śakas, and after it the reign of Vikramāditya and his dynasty. This tradition also places after the Gardabhilas, the Śaka king, 605 years after Mahāvira Nirvāṇa.

The Digambara Jain traditions, on the other hand, after the sixty years of Vasumitra and Agnimitra assign one hundred years to the Gardabhilas, whom Tiloyapannati calls as Gardhavas and Harivaṁśa Purāṇ as Rāsabhas. 'Rāsabha' seems only a translation of 'Gardhava' both meaning 'ass'. It is a common practice in Indian traditions to etymologically explain personal and tribal names. We may recall the story given in the Kālakācārya Kathā of the king Gardabhila being called by this name as he mastered the magic known as 'Gadabhi', 'she ass'[2]. Elsewhere we have suggested that Gardabhila may be identical with Kharavela of the Hāthīgumphā inscription fame. We have tried to show there that like Gardabhila Khāravela also belonged to the first century B.C. Khāravela's conquests of Western and Central India are attested by his inscription. Gardabhila may be a translated from of the name Khāravela, "Khar" also like 'Gardabha' meaning ass. The same process of translation can

---

1 Merutuṅga's Vicārṣreṇī.

2 Brown : The Story of Kālaka.

be traced in Jinasena calling Gardabhilas and his dynasty as 'Rāsabha kings Our surmise is that the dynasty founded by Khāravela is the same as the Gardabhilas of the Jain and the Paurānic traditions If this surmise is correct then the 13 years of reign and conquest of Khāravela mentioned in the Hāthīgumphā inscription will correspond to the reign of 13 years assigned to Gardabhila in the Jain traditions in which case the victorious career of Khāravela or Gardabhila came to an end after his defeat by the Sakas It has also been surmised that Vakradeva of Khāravela s dynasty be the famous Vikramāditya, who drove the Śakas out of Ujjain[1]

After the Gardhavas or Rāsabhas (Gardabhilas) these Digambara Jain traditions place Nahavāna whom they call as Narvahāna, and these traditions also like the Śvetāmbara ones assign him 4o years After Nahavāna comes Bhathaṭṭhanas then the Guptas and after the Guptas came Kalki These traditions count 1000 years between the death of Mahāvīra and that of Kalki It is interesting to note that these Digambara chronological traditions unlike the Śvetāmbara ones do not refer to Vikramāditya They are preoccupied chiefly in establishing a chronology to show a difference of 1000 years between Mahāvira Nirvāna and Kalki The Śvetāmbara chronological traditions on the other hand are chiefly concerned with the Śaka King who is placed 605 years after Mahāvira Nirvāna They are not concerned with Kalki and do not carry the chronological list beyond the Śaka King But the most important difference between the Digambara and the Śvetāmbara Jain chronological traditions is that in the former Nahavāna is placed after and in the latter before the Gardabhilas

Nahavāṇa is undoubtedly, as is generally believed by modern historians, the same as Nahapāna, the Mahashatras of Kshanarāta family, who is mentioned in several inscriptions and a large number of whose coins is also discovered The Nāsik inscription of the queen Gotami Balaśrī, mother of Gautmiputra Śātakarni informs us that her son Gautmiputra Sātakarṇi rooted out the Khakharāta (Kshaharāta) family and restored the glory of the Sātavāhanas[2] As pointed out by Jayaswal[3] according to the Jain traditions preserved

1 Nagpur University Journal No 8
2 Luder s Brahmi Inscription No 1123
3 JBORS Vol 16 (1830) P 248 ff

aasign 40 years of reign to Nahavāṇa or Nahapāna, whose reign therefore lasted upto 605 years (430 between Mahāvīra Nirvāṇa and Vikrama + 135 of Vikrama's dynasty + 40 of Nahavāṇa) after Mahāvīra Nirvāṇa. It thus seems that the Jain counting of 605 years between Mahāvīra Nirvāṇa and the Śaka King, perhaps, refers to the period between the death of Mahāvīra and that of Nahavāna. Starting with the commencement of the reign of Nahavāṇa or Nahapana in 78 A D. the end of his forty years reign well fall in 118 A D. which will then be the date of the defeat of Nahavāṇa or Nahapāṇā by Gautamīputra Śātakarṇi[1].

The Śvetāmbara chronological traditions given above stop with the Śaka King, who, as shown above, is identical with Nahavāṇa. But the Digambara traditions carry the chronology after Nahavāṇa and assign 242 years to Bhathaṭṭhaṇas (Śālāuāhanas?) After Bhathaṭṭhaṇas these traditions assign 231 years to the Guptas, and after the Guptas 42years to Kalki, and thus count 1000 years between Mahāvira and Kalki. The difficulty with the Digambara chronological list is that it neither refers to Vikramāditya nor to the Śaka King, whose eras provide the important land-marks in the Indian chronological reckonings and help us in their conversion into now commonly used Christian era. Kalki too is an unknown entity. The Digambara chronological list places a difference of 485 years between the death of Mahāvira and that of Nahavāṇa and 515 years between the death of the latter and Kalki. This cannot be treated as correct since the Digambara chronological list has made a serious mistake in assigning 40 years to the Mauryas against a probable reign-period for this dynasty of 160 years. If we add these 120 years to 485 years already given in this list between Mahāvira Nirvāna and Nahavāṇa we get the total of 605 years, which, as discussed above, is the

1 If the dating in the inscriptions of Nahāpana are from the beginning of his reign which is placed according to the calculations given above in 78 A.D. then these inscriptions will suggest a reign of about 46 years to Nahapāna If we take 46 years as the reign-period of Nahapāṇa his defeat at the hands of Gautamiputra Śātakarṇī will fall in (78 + 46) 124 B C or it may be that these inscriptions may be dated in an era commencing with Bhūmak, the predecessor of Nahapāṇa, and perhaps the founder of Kshaharāta rule in Western and Central India. And the popularly used Śaka era commenced with the beginning of the reign of Nahapāṇa under whom alone the Kshaharātas rose to great supremacy in Central India. In this case the persistent Jain tradition of 40 years of reign of Nahavāna or Na[illegible]na may be correct.

correct difference from Mahāvīra Nirvāna to the end of Nahavāṇa's reign We may recall that the Digambara works like the Śvetāmbara ones also distinctly record the tradition that the Śaka King came 605 years and five months after Mahāvīra Nirvāna and as suggested in the Digambara work Trilokasara of Nemicandra, the difference between the Śaka King and Kalki is that of 394 years 7 months[1] There seems to be little doubt that the two traditions refer to one and the same Śaka King and he as discussed above, appears to be no other than Nahavāna or Nahapāna[2] Thus according to the chronology as we have reconstructed from the Jain sources Nahapāna s reign commenced in 78 A D and ended in 118 A D and about 394 years after this, i e in 512 A D ended the reign of Kalki This may perhaps refer to the end of the reign of the Hun King Toramāna, who also displaced the Guptas in central India, and who as suggested by Jaysawal also died about 512 A D[3] Toramāna like his son Mihirakula may have been a great oppressor and the Jain records may nave preserved the tradition of his cruel rule in the account they give of Kalki

If it be true that Kalki of the Jain traditions stands for Toramāna it may not be difficult to account for the period of about 394 years assigned by the Jain traditions between the end of Nahavāna s reign and that of Kalki After Nahavāna the Digambara Jain traditions assign 242 years to Bhatatthanas One is tempted to identify them with Śatavāhanas who as we know, overthrew Nahavāna or Nahapāna[*] But the supremacy of the Śatavāhanas did not last long in Central India as almost on their heels we have the rise in this area of the Śakas of the family of Chashtana 242 may be taken to cover the reign in this region both of the Śātvāhanas and after that of the line of Chashtana and Rudradāman This seems likely as both these dynasties were contemporary It is interesting to note that Albaruni puts the beginning of the Gupta era in 242nd year of the Śaka era It is now generally assumed that the Gupta era began

---

1 पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो ।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥८५०॥

Nemicandra Trilokasara Manikcandra
Digambara Jain Mala

2 It is interesting to note that all the Jain traditions speak of a Śaka King who is placed 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa and not of any Śaka dynasty We know that the Kshaharāta family came into prominence in Central and Western India with Nahapāṇa and it also ended with him

3 An Imperial History of India P 61

with the rise of the Guptas and after their extermination as suggested by Alberuni. If, as argued above, the Śaka era commences with the reign of Nahavāna or Nahapāna in 78 A.D. the rise of the Guptas will take place 242 years after it, i e in 320 A.D. This gives us an interval of (242—40) 202 years between the end of reign of Nahapāṇa and the beginning of the Guptas It seems in recording 242 years as the interval between Nahavāna and the Guptas the Digambara traditions have counted from the beginning of the reign of Nahavāna or Nahapāna and not from its end. The mistake may have occurred because Nahavāna or Nahapāṇa and the dynasty here called as Bhathatṭhaṇas were perhaps contemporaneous and the total for this dynasty would therefore cover also the reign of Nahavāna

According to the modern historical studies the Guptas whose rise commenced about 320 A D, towards the close of the fifth century were displaced in Central India by the Hun King Toramāna If Toramāṇa's death is placed about 512 A D, it will give us a period of (512—320) 192 years from the rise of the Guptas to the end of Toramāṇa's reign. The total period from the end of Nahavāṇa or Nahapāṇa's reign to the end of Toramāna's reign will then be (202+192) 394, which is the same as the difference between the reign of the former and that of Kalki, as suggested by the Jain traditions. It thus seems that the traditions of a difference of 605 years and 5 months assigned in the Digambara Jain traditions between Mahāvira Nirvāna and the Śaka King as well as of 394 years and 7 months between the latter and Kalki or of a difference of 1000 years between Mahāvira Nirvāṇa and the end of the reign of Kalki or Toramāṇa are historically correct. Kalki may be a tribal name, umineseent of the Kaiḷkilas of the Purāṇas[1].

As regards 231 years of the Guptas given in the Digambara traditions, these may refer to their dynastic total, from their rise to the rise of the Maukharis, who snatched the supremacy of North India from the Guptas about 554 A D, when according to the Harāhā inscription the great Maukhari King Iśānavarman was on the throne[2]. 554 A.D. falls 234 years (554—320) after the rise of the Guptas. Assuming that Iśānavarman came to the throne a few years earlier, 231 years assigned to the Guptas in the Digambara traditions would also appear to be correct.

1 It may be noted that Abulghazi gives Kalaches and Kanklis as names of the two of the five primitive Turkish tribes (Historians History Vol XXIV P 259.)

2 C F. Raychaudhari "Political History of Ancient India. P 531

Pre-historic Jaina Paintings.

By
Jyoti Prasad Jain M A LL B Lucknow
(*Continued from Vol XI, Page 56*)

As a matter of fact the all pervading conception of three into one in the various branches of Jaina religious system, viz cosmology, dogma metaphysics philosophy ethics logic and so on is so overwhelming that it requires to be dealt with seperately And the Trident alone is the best and most illustrative symbol which can timely represent the idea of any three elements or aspects all distinct and independent of one another yet essentially requiring a blending into one, in order to serve their purpose

Thus it is quite evident that the Trident as a sacred religious symbol essentially and originally belonged to Jainism and in the centuries before the Christion era was exclussively their (of the Jains) own object of worship

The modern historians unanimously date the prevalence of Jainism from the 9th century B C and believe the last two Tirthankaras lord Parswa & lord Mahavira as historical personages, but they are not quite certain whether all the earlier twenty two Tirthankaras, or some of them, were historical personages, or mere mythical figures Some of them at least, like Rishabha, the first and Arishtnemi, the 22nd are believed by many scholars to be historical personages, on the enternal evidence found in the vedic and Hindu Pouranic literature, substantiated by archeaological discoveries While many antiquarians on archeaological epigraphical, eternological, philosophical and such other grounds, are inclined to date back, the prevalence of Jainism in India from before the advent of Vedic Aryans

In fact the earliest religious monuments stupas, idols, symbolic representations (including the Trident), cave dwellings of ascetics, epigraphical and even numismatical records, found all over the country undoubtedly belong to the Jainas alone, amongst all existing religious systems

Now the painting in question was found on the walls of a cave used by hermits As against the vedic religion, and even early Budhism, asceticism is peculiarity with Jainism It is a time honoured

THE APOSTLES OF BLOODLESS ALTAR.

By
Principal, A. Chakravarti, M.A., I.E.S. (Retd.)

In the book "Buddha and Buddhism" by Arthur Lillie in the World's Epoch-makers series, there is a chapter on the "Apostles of Bloodless Altar", in which he collects a number of interesting facts to show how the doctrine of Ahimsa was spread beyond India towards Western Asia Lillie starts with the assumption that Buddhism was responsible for introducing the following doctrines as part of its religious cult.

1. Enforced vegetarianism for the whole nation.
2. Enforced national abstinence from wine.
3. Abolition of slavery.
4. The introduction of the principle of forgiveness of injuries in opposition to the national *lex talionis*
5. Uncompromising, antagonism to all national religious rites that were opposed to the gnosis of spiritual development of the individual.
6. Beggary, continence, and asceticism for the religious teachers.

These are the six originalities of the Buddhist movement as viewed from the outside.

With this assumption he proceeds to show that Christianity was very much influenced by Buddhism and its doctrine of Ahimsa In order to establish his thesis, he points out some important historical incidents which are worth noticing.

"There are two Zoroasters, one lived 6000 years B.C. and the other 500 years B C. The former proclaimed that it was necessary to propitiate God by sacrificing hundreds of horses, thousands of cows, and ten thousands of small cattle at his altar But the second Zoroaster proclaimed a bloodless altar. He sought to tear the net-work of the first Zoroaster to shreds. What is the meaning of this? asks Mr Lillie, and answers, simply that the Buddhist wanderers had by this time invaded Persia, and had fastened their doctrines upon the chief local prophet. A study of the religion of the second Zoroaster, the religion of Mithras, will help us to understand some

of the secrets of Buddhist propagandism About 450 years B C Buddhist missionaries were found in Western Persia After describing the habits of the Mithras Lillies comes to the conclusion that it is plain that the worshippers of Mithras had the simple rites of Buddhists and Christians, baptism and the bloodless altar

Similarly are the characteristics of religious practices with the Pythagorians Pythagoras left no written statement of his doctrines He interested himself in science on the one hand and religion on the other hand Hence he was responsible for founding a scientific school as well as a religious organisation We are not interested here in his scientific school His researches in geometry, his theory of numbers and the application of the latter to the interpretation of cosmic events are all facts known to the students of history of science and mathematics We should rather turn our attention to the religious aspect of Pythagoras Though there is no record left by him or his religious disciples still we are fortunate enough in getting enouch information from the 4th century comic poets whose favourite pastime was to ridicule Pythagoras and their religious practices "We still have a considerable number of fragments in which they are made fun of for their squalid and penurious ways It is perfectly plain that they did as a matter of fact abstain not only from meat but from fish, and that they wore a peculiar costume and went barefooted They looked forward for a privileged position in the next world, and regarded their present life as a sojourn in a strange land For the rest they are said to have been lousy and dirty which is the impression that ascetics are apt to make on men of the world. They eat vegetables and wash them down with water

This contemptuous reference to the Pythagoras is in a part with the contemptuous references made by the singers of Thevara hymns in Tamil about the Jainas in South India who were ridiculed as plant eating Samanas Further we learn that these Pythagoras believed in the reality of the soul as distinct from the Body They also believed in the kinship of men and animals They also believed in the doctrine of transmigration which is the fundamental doctrine of the Indian systems of thought

Lillies quotes from Philo to prove that Essenism the mystical school of Israel, was a mixture of Judaism with the old Oriental theosophy In this letter Philo speaks of a sect of Oriental ascetics found in Alexandria According to these ascetics the soul of man

is divine, and his highest wisdom is to become as much as possible a stranger to the body with its embarrassing appetites Contemplation of the divine essence is the noblest exercise of man; it is the only means of attaining to the highest truth and virtue and therein to behold God is the consummation of our happiness here." The most important part of Lillie's extracts from Philo's letter is the following.

"In India, too, there is the sect of Gymnosophists, who in addition to speculative philosophy, diligently cultivate the ethical also, and have made their life an absolute ensample of virtue"

"Palestine, and Syria are not without their harvest of virtuous excellence There are among them some who derive their name, Essenes from a Greek term which means holiness have shown themselves preeminent by devotion to the service of God, not in the sacrifice of living animals, but rather in the determination to make their own minds fit for a holy offering" Lillie adds, "plainly here the Essenes are pronounced of the same faith as the Gymnosophists of India, who abstain from the bloody sacrifice, that is, the Buddhists"

Further, he quotes from Burnouf who asserts "that the Indian origin of Christianity is no longer contested For a long time folks had been struck with the resemblances, or rather the identical elements contained in Christianity and Buddhism. Writers of the firmest faith and most sincere piety have admitted them. The problem remained unsolved until recently when the pathway that Buddhism followed was traced step by step from India to Jerusalem"

These extracts quoted by Lillie show that Christianity was very much influenced by the doctrine of Ahimsa which was propounded in India In Lillie, it is rather unfortunate that he is not able to differentiate between Buddhism and the philosophy of the Gymnosophists. The term "Gymnosophist" means "naked philosopher" The term is used by the Greek writers to denote nirgranthas, the Jaina ascetics of India. When Gautama Sakhya Muni began his teachings there were these nirgranthas who were the followers of Mahavira, an early contemporary of Buddha. The same doctrine of Ahimsa was proclaimed by Lord Parswa, who preached this doctrine 250 years before Mahavira, i e., about 850 B C. Parswa, who is recognised to be a historical person by the Oriental scholars did not originate the doctrine of Ahimsa as nirgrantha faith. Tradition takes us back to Lord Rishabha who is said to have preached the

doctrine of Ahimsa several centuries before the advent of the Vedic Aryans in the Indus Valley This Rishabha cult had been prevalent throughout India about the time of Aryan invasion, and the people of the land who were followers of this Rishabha cult resisted the Aryan invasion, not merely because of political reasons, but because of cultural reasons The vedic aryans had a religion which was violently in conflict with the prevalent Rishabha cult. The Vedic Aryans had as their central religious doctrine Yaga, which involved animal sacrifice They also were in the habit of eating flesh and drinking intoxicating Soma Since Rishabha cult based upon Ahimsa did not recognise any of these practices—religious and social—the followers of Rishabha cult naturally opposed the invading Aryans vehemently The people of the land who thus resisted the Aryan invaders, had a very high order of culture and civilisation and they lived in big fortified cities or Puras The description given of the people of the land by the Vedic Aryans though not very complimentary, gives us interesting news about the original inhabitants of the land They were opposed to Yagna they were opposed to the Indra Cult They spoke a different language and they worshipped a nude figure of God and so on This Rishabha cult, originated long before the advent of Vedic Aryans is associated with the people of the Gangetic Valley and especially the Ikshvakus in which clan Lord Rishabha was born The Pioneers of the Bloodless Altar must be traced to these Ikshvakus, whose famous hero was Lord Rishabha who was the first to preach to the world the doctrine of Ahimsa Gautama Sakhya Muni before he founded his own faith, what he calls the middle path, had evidently been a member of this nirgrantha order

In Majjima Nikaya Gautama Buddha relates his early experiences to his friend and disciple Sariputta

"Thus far Sariputta, did I go in my penance I went without cloths, I licked my food from my hands I was no complier with invitations of 'come in, your reverence! Stay, your reverence!' I took no food that was brought or meant specially for me I accepted no invitations to a meal I took no alms from pot or dish I took no food from within a threshold, or through windowbars, or within the pounding place nor from two people eating together, nor from a pregnant woman, nor from a woman sackling a child nor from one in intercourse nor from food collected here and there nor food

where a dog stood by, nor from places where flies were swarming, nor fish, nor flesh, nor drink fermented, nor drink distilled, nor yet sour gruel did I drink"

This passage where Gautama narrates his early experiences clearly shows that he was a member of the nirgrantha order for some time in the beginning of his career.

We have to emphasise one important difference between Jainism and Buddhism Both preached the doctrine of Ahimsa, both claimed to be the apostiles of the bloodless altar as opposed to the vedic religion of the Aryans which involved shedding of blood in the name of religion and God. In spite of this fundamental identity, there is thus a difference between the two.

Nirgrantha insisted on abstaining from flesh and intoxicating drink as a necessary corollary of the doctrine of Ahimsa, whereas Buddhism never cared to enjoin that abstinence. Throughout the history of Buddhism, Buddhist Bikshus were meat-eaters, and they maintained that even the founder, Buddha, was not a strict vegetarian. This fundamental difference between the two schools of thought is not noticed by the oriental scholars, and especially by Arthur Lillie, who maintains that Buddha was responsible for enforced vegetarianism and enforced abstinence from wine. This view of Lillie is not corroborated by the history of Buddhism and the practices of the Buddhists monks His identification of the Gymnosophists with the buddhists is also due to ignorance of the historical facts. The Gymnosophists or the nirgranthas not only preached the doctrine of Ahimsa, but also insisted on giving up flesh and wine. If the Pythogoras, the latter Zoroasters, and the Essenes, who are hailed as the apostles of bloodless altar, were also preaching strict vegetarianism, abstaining from eating flesh and drinking wine, they must have had the inspiration from the Gymnosophists of India, the nirgranthas who were entirely different from the Buddhist Bikshus These apostles of bloodless altar are said to have flourished in about 500 B C, and Pythagoras, though said to be an Ayonian thinker, had his religious activities in Greece and Italy. It is rather difficult to assume that it was Buddhism that carried the doctrine of Ahimsa through Persia to Ayonia, Alexandria, Greece, and Italy. We know clearly that the school of nirgrantha had been in existence in 850 B.C Abstinence from flesh and drink which was emphasised by these apostles of bloodless altar could not be

reasonably traced to Buddhism because the followers of Buddha were not insisting on vegetarianism This difference in the doctrine, and the existence of these religious orders as early as 500 B C must naturally be traced to an earlier religious order which practised strict vegetarianism and which was in existence a couple of centuries prior to the date of Pythagoras, and Zoroasters, to allow sufficient period for these ideals to reach the Western shores of Asia, Alexandria, Greece and Italy There it will be more accurate to suggest that these apostles of bloodless altar had their inspiration from the order of the Gymnosophists which had been in existence from the 8th Century B C Hence his thesis that Christianity was influenced by the Indian Ideal of Ahimsa propounded by the Gymnosophists remain true though his confusion between the Gymnosophists and the Buddhists is rather deplorable A closer study of Jaina literature and further appreciation of the antiquity of the Rishabha cult and its influence in ancient India would naturally give students of history a truer picture as to the early Apostles of the 'Apostles of the bloodless Altar

WOMEN IN SEPARATION (PROṢITA BHARTṚKĀ) IN THE APABHRṂŚA STROPHES OF HEMCHANDRA.

By
Sibendranath Ghosal
Prof Bogra College, Bogra, (Bengal)

The Apabhramśa strophes of Hemchandra present us a rich store of love-lyrics. In it we find not only a pen-picture of the different types of women, but also a vivid delineation of the most subtle phases of their love with its countless tangles of complexities. These are so varied in nature and the women are individually so distinct from one another that each of them forms herself a type and an effort to classify them according to the norms[1] of the Sāhitya-darpaṇa will certainly prove to be totally futile. As it is not possible to deal with all of them in such a small space, that we have got at our disposal, in the present article we should try to describe only the women in separation (proṣita-bhartṛkā) and study the workings of their hearts, undergoing changes under the sway of the most fervent passion of love.

In the very beginning, it must be mentioned that the descriptions, of the women in separation, which we find in the Apabhramśa strophes, can never stand a comparison with those that we find in the Sanskrit-literature, specially in the works of Kalidas. They lack the grandeur, vigour and grace of the Sanskrit poetry. The women too, whom these Apabhramśa verses introduce pale into insignificance when they are put in contrast with such figures of sanskrit literature. They are not the same women who, weighed down with a sense of utter desolation, pine for the lovers and languish at the alter of love, being totally oblivious of their own selves and the world around. They cannot stand on the same rank with the wife of the yakṣa in "Meghaduta" or the wretched queen of "Maria stuart" and kindle a sense of tragic sympathy in us, on the contrary, by their frivolities and their sportive freaks, they stifle the tragic effect that springs forth due to their separation from their lovers. In most of these verses, which depict such women the tragic value is thus, marred and a novelty of fancy and imagination, the exuberance of which we

1 Reference to Sāhitya-darpaṇa, Chap. III, verses 68, 69, 70, 71, 72, 73, 86

find in all these strophes, occupies its place, captivating the heart of the readers Despite such a grave defect the verses are so beautiful so vivid and so impressive that one can never deny that each of them gives rise to a sense of awe and delight in us Of course, it sould also be simultaneously admitted that at times like oases in the desert we come across such verses, which rise far above such a fault, and present us women of true love and passion, who approach far close to the wife of the Yaksa and the wretched queen In such verses, suggestiveness has been one of the most prominent features, and imaginative readers have been the best appreciators of such poems

We find the description of a woman estranged from her lover in the verse —

> पक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ
> माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थलें सरउ ।
> अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी तिलवणि मग्गसिरु
> तहें मुद्धहें मुह पङ्कइ आवासिउ सिसिरु । VIII 357 2

"The month of श्रावण has settled in one eye of the fair lady, while the month of भाद्रपद in another, on the couch the spring (as the bed was made of tender leaves) on her cheeks the autumn on her limbs the summer and in the field of sesamum of सुखासिका (sitting at ease) मार्गशीर्ष the winter (शिशिर) on her lotus like face" For a clear conception of the verse the skt commentary is much helpful It is interesting as it explicitly shows how the poets of sanskrit and derived languages, let loose the reins of imagination and fancy while they compose verses It runs thus अनयोरर्थः । तस्या मुग्धाया एकस्मिन् नेत्रे श्रावणः । अन्यस्मिन् अक्ष्णि भाद्रपदः । को भावः । यथा एतौ द्वौ मासौ वर्षिणौ तथानिद्वयमप्यश्रुजलधाराभिर्वर्षणसादृश्यतुल्यम् । महीतलस्रस्तरे माधवः वसन्तः । पल्लवमयत्वात् । गण्डस्थले शरत् । तस्या काशकुसुमादिमा पाण्डुत्वात् । अङ्गेषु ग्रीष्मः तापव्याकुलत्वात् । सुखासिकातिलवने मार्गशीर्षं । यथा मार्गशीर्षे तिलवनाना मुच्छेदः स्यात्तया सुखावस्थानस्योच्छेदः । मुखपङ्कजे शिशिरः आवासितः । यथा शिशिरे पङ्कजानां म्लानत्वं तथा मुखपङ्कजस्यापि । स्त्रीणां वियोगावस्थायाम् एतानि चिह्नानि स्युः ।"
It must be said here that the verse scarcely creates an atmosphere of sympathy for the sorrowful lady, who is conceived to be pining for the lover on the contrary it fills the minds of the readers with an admiration for the ingeneous and subtle expressions of the poet which are highly appreciated by the or‑ental critics

The following verse [illegible] re with the preceeding one,

of the Bom. edition, should be carefully observed." There is a common belief that the crowing of a crow indicates the coming of a guest. The lady on hearing this sound of the crow did not see her lover returning and was probably disappointed and wanted to frighten the crow While doing so, she saw her lover suddenly. The result is that from her emaciated hand dropped down some bangles before the husband was sighted, but after he was seen the lady became fat with joy aud so the rest of the bangles cracked. Pkt. gram. Bom. edition p. 679. We can never deny that here we find a play of fancy, which is unique and extremely charming.

In the verse following, we find the delineation of a woman who shows self-possession even in the moments of high suspense; and her delights which she ardently tries to suppress break out in a most humorous exclamation :—

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।

तहो विरहहों नासन्तअहों धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥ VIII 432. 1.

"The lover has returned; (so) I heard the news; his voice has fallen on my ears; I donot now see even the dust (ashes) of the separation that is disappearing, dying."

In conclusion we must say that we have quoted only a few among many that occur in the Pkt. grammar of Hemchandra. Many such beautiful poems, which are like so many sparkling stars in the firmament of Indian literature, have been lost in course of centuries and many poets, who contained in them immense possibilities, have been thus allowed to be buried into oblivion. The neglect of the cultured people, who had been at the helm of the society in the different ages has been undoubtedly responsible for this irreparable loss. A spirit of zealous and most enthusiastic research can only throw newer lights on the poems, and unravel the history of those versifiers, who would certainly occupy a most distinct place among the lyric poets of the different ages and climes.

N B —I have borrowed the English translation of the afore-quoted verses from the Bom. edition [publication no. LX (appendix). Bomay Sanskrit and Prakrit series]

RULES.

1 The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, i e, in June, September, December and March

2 The inland subscription is Rs 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-4 0

3 Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India)

to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc, from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes, etc, type-written, and addressed to,

K P JAIN, Esq M R A S,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

PROF HIRALAL JAIN M A, L L B
PROF A N UPADHYE, M A D.Litt.
B KAMATA PRASAD JAIN, M R A S
PT K BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA
PT NEMI CHANDRA SHASTRI, SAHITYARATNA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ...	२।)
	(मू० कम कर दिया गया है)	
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	।।)
(४)	जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ...	२।)
(५)	" २य भाग ...	४)
(६)	" ३य " ...	४)
(७)	" ४र्थ " ...	४)
(८)	" ५म " ...	४)
(९)	" ६म " ...	४)
(१०)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ...	।।)
	(यह अर्ध मूल्य है)	
(११)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ...	।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १२ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol XI No II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL.B.
Prof A N Upadhye M. A D Lit.
B Kamata Prasad Jain M. R. A S
Pt K. Bhujabali Shastri Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH BIHAR INDIA

Inland Rs. 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8

JANUARY, 1946

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२] [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए , एल-एल बी., डी फिल
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए , डी लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस., डी एल
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न,



जैन सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २००२

विषय सूची

श्रीजिनाय नमः



अनेकान्त

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १२	जनवरी, १९४६ । माघ वीर नि० सं० २४७२	किरण २

केवली जिन कवलाहार नहीं लेते

[ले०—श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री]

नियमसार की गाथा ६ और ७ में बतलाया है कि "जो क्षुधा, तृष्णा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग इन सब दोषों से रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है वह परमात्मा[1] है।"

आचार्य समन्तभद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में उच्छिन्नदोष के विश्लेषण द्वारा परमात्मा का लक्षण[2] करते हुए इसी बात को दुहराया है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि ९ वीं शताब्दी के पूर्व अन्य ग्रन्थों में रत्नकरण्डश्रावकाचार के उल्लेख नहीं पाये जाते। इसलिये यह ग्रन्थ समन्तभद्र स्वामी का न होकर किसी अन्य समन्तभद्र का है।

एक यह भी दलील दी जाती है कि जब समन्तभद्र स्वामी ने 'आप्तेनोच्छिन्न' इत्यादि श्लोक द्वारा आप्त का स्वरूप कह दिया और वहां यह भी बतला दिया कि इन बातों को छोड़ कर अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं प्राप्त होता तो फिर इस दूसरे लक्षण की क्या आवश्यकता थी, इससे तो 'वदतो व्याघात' दोष आता है।

एक यह भी दलील दी जाती है कि समन्तभद्र स्वामी ने अन्यत्र आप्त के विषय में पर्याप्त विचार किया है वहाँ उसे इन क्षुधादि दोषों से रहित क्यों नहीं बतलाया ? इससे भी ज्ञात होता है कि आप्त क्षुधादि दोषों से रहित होता है यह मान्यता साम्प्रदायिक है और पीछे से गढ़ी गई है।

---

(१) देखो कुन्दकुन्द कृत नियमसार।

(२) देखो रत्नकरण्डश्रावकाचार का ६ वां श्लोक।

ये तीन दलीलें हैं जिनपर प्रसंगवश संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रथम दलील का उत्तर—

(१) सन्मति के कर्ता सिद्धसेनके द्वात्रिंशतका में रत्नकरण्ड का "आप्तोपज्ञ—" यह श्लोक पाया जाता है, वहाँ इसकी आवश्यकता नहीं होते हुए भी दिया है, इससे ज्ञात होता है कि सिद्धसेन के सामने रत्नकरण्ड था। ये आचार्य सातवीं शताब्दी के विद्वान् हैं।

(२) सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता पूज्यपाद के सामने समन्तभद्र स्वामी के जो ग्रन्थ रहे उनमें रत्नकरण्डश्रावकाचार भी है। यहां दो चार ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिससे इस विषय की पुष्टि हो—

(३) पूज्यपाद ने जो नय का सामान्य[1] लक्षण किया है उस लक्षण को करते समय उनके सामने आप्तमीमांसा[2] रही है।

(४) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीका में जो 'तीर्थाभिषेकदीक्षा-शीर्षोपहारदेवताराधनादयः' यह पंक्ति लिखी गई है सो यह पंक्ति लिखते समय स्वामी समन्तभद्रकृत युक्त्यनुशासन का निम्न श्लोक सामने अवश्य रहा है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।'

इन व ऐसे ही अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थ आ० पूज्यपाद के सामने रहे तब भी उन्होंने उन ग्रन्थों में से कोई श्लोक उद्धृत नहीं किया। ठीक यही अवस्था रत्नकरण्डश्रावकाचार की रही है। यह ग्रन्थ पूज्यपाद स्वामी के समक्ष अवश्य था जिसके कुछ प्रमाण निम्न हैं—

पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र १ की व्याख्या लिखते हुए निम्न वाक्य लिखा है—

'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।'

यह वाक्य रत्नकरण्डश्रावकाचार के निम्न श्लोक के आधार से लिखा गया है—

'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'

पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र २२ की व्याख्या में जो अनर्थदण्डों का स्वरूप लिखा है सो वह स्वरूप लिखते समय उनके सामने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अध्याय ३ के ३० से लेकर ३४ तक के श्लोक रहे हैं।

इन प्रमाणों के रहते हुए यह कहना निःसार है कि '९ वीं शताब्दि के पहले के ग्रन्थों में रत्नकरण्डश्रावकाचार के उल्लेख नहीं पाये जाते, अतः इसके कर्त्ता समन्तभद्र स्वामी नहीं हैं।'

(१) देखो सर्वार्थसिद्धि १, ३३।

(२) देखो १०६ श्लोक।

हमने जो प्रमाण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता समन्तभद्र स्वामी ही हैं। इतना ही नहीं किन्तु यह ग्रन्थ पूज्यपाद और उनके बाद हुए सिद्धसेन के सामने रहा है।

द्वितीय दलील का उत्तर—

आप्त का पहला लक्षण कहते समय उसमें 'उच्छिन्नदोष' यह भी विशेषण है अत अगले श्लोक द्वारा वे दोष गिना दिये गये हैं और उनसे जो रहित है वह आप्त है यह बतला दिया है इस प्रकार यह दूसरा लक्षण पहले लक्षण का पूरक ही है। इस दूसरे श्लोक द्वारा कुछ आप्त का अन्य प्रकार से लक्षण नहीं किया गया है।

तीसरी दलील का उत्तर—

स्वामी समन्तभद्र ने आप्त के स्वरूप का विचार करने के लिये 'आप्तमीमासा' लिखी है। आप्त का मुख्य अर्थ है अरहन्त देव। इसलिये अरहन्तदेव की स्तुति में अरहन्त के शरीर और आत्मा दोनों की स्तुति आ जाती है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर दोष गिनाये गये हैं और उन दोषों से रहित आप्त को बतलाया है। परन्तु आप्तमीमासा में शरीर की स्तुति को अरहत की स्तुति न मान कर शरीरातिशयों द्वारा, यह कह कर कि ये शरीरातिशय[1] तो रागी देवों में भी देखे जाते हैं, आप्तता को अस्वीकार कर दिया है पर इसस यह बात तो फलित हो ही जाती है कि समन्तभद्र स्वामी का यह मत रहा है कि आप्त के शरीर में विशिष्ट अतिशय होते हैं। 'भीतरी और बाहिरी ये शरीरादिक के अतिशय दिव्य हैं और सही हैं' उनके इस कथन से क्या इसकी पुष्टि नहीं हो जाती अर्थात् अवश्य हो जाती है। समन्तभद्र क्षुधादि दोषों से रहित आप्त को अवश्य मानते हैं यही इसका भाव है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अन्यत्र जहाँ भी समन्तभद्र स्वामी ने आप्त की मीमासा की है वहाँ आप्त को क्षुधादि दोषों से रहित सर्व प्रथम स्वीकार कर लिया है और उसके बाद ही उन्होंने आप्त के आत्मिक गुणों का विश्लेषण किया है। आप्तमीमासा के १ से लेकर ६ श्लोक देखने पर यह स्पष्ट होजाता है कि उन श्लोकों के व रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित आप्त के स्वरूप के प्रतिपादक श्लोकों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार ग्रन्थ होने से उसमें वर्णनात्मक दृष्टि रही और आप्तमीमासा दर्शन ग्रन्थ होने से उसमें विश्लेषणात्मक दृष्टि रही।

अब इस तीसरी दलील के अन्तर्गत दो बातों का और विचार करना है। पहली यह कि यह मान्यता साम्प्रदायिक है और दूसरी यह कि यह मान्यता पीछे से गढी गई है। सो जब

(१) देखो आप्तमीमासा श्लोक २।

आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे प्राचीन आचार्यों ने आप्त को क्षुधादि दोषों से रहित माना है तब यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह मान्यता पीछे से गढ़ी गई है।

अब रही साम्प्रदायिक दृष्टि की बात सो हम इसका आगे ही विचार करने वाले हैं कि क्या इसके पीछे कोई आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि है या सम्प्रदाय विशेष ने ही इसे खड़ा कर दिया है।

इस प्रकार तीनों दलीलों का संक्षेप में उत्तर हुआ। अब प्रतिज्ञानुसार केवली क्षुधादि दोषों से रहित होते है इसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि क्या है इसका विचार करते हैं। स्त्री-मुक्ति निषेध, सवस्त्रदीक्षा निषेध ये मान्यताएँ कदाचित् दूसरों द्वारा साम्प्रदायिक कही भी जा सकतीं हैं क्योंकि इनसे दिगम्बरत्व का पोषण होता है परन्तु केवली कवलाहार नहीं करते इसे साम्प्रदायिक कहना बेमतलब की बात है।

जीवकाण्ड मे बतलाया है कि पृथ्वी[1], जल, अग्नि, वायु, केवली, आहारक, देव और नारकी इनके शरीर मे निगोदिया जीव नही रहते। इनका शरीर निगोदियों से अप्रतिष्ठित है।

केवली जिन का शरीर निगोद जीवों से रहित है इसकी पुष्टि षट्खण्डागम के मूल सूत्रों से भी होती है। वहां बतलाया है कि बारहवें गुणस्थान में सब निगोद जीवों का अभाव हो जाता है। अभाव होने का क्रम यह है कि 'क्षीणमोह गुणस्थान के पहले समय मे भी निगोदिया जीव मरते है दूसरे समय मे भी मरते है, तीसरे समय मे भी। इस प्रकार क्षीण-मोह के अन्तिम समय तक निरन्तर मरते रहते है। पहले समय मे मरने वाले अनन्त जीव है, दूसरे समय मे भी मरने वाले अनन्त जीव हैं। क्षीणमोह के अन्तिम समय तक यही क्रम जानना चाहिये'। यथा—

'अत्थि खीणकसायपढमसमए मदजीवा। बिदियसमए मदजीवा वि अत्थि। तदियसमए मरंतजीवा वि अत्थि एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। खीणकसायपढमसमए मदजीवा केत्तिया? अणंता। बिदियसमए मदजीवा केत्तिया? अणंता। एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति।'

यहां निगोद जीवों का प्रकरण होने से केवल उनका ही निषेध किया है। फलितार्थ यह है कि केवली जिन का शरीर त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों से रहित है। इसका यह अभिप्राय है कि केवली जिन के शरीर मे केवल वे ही तत्त्व रहते हैं जिनमे जीव पैदा नहीं होते। वे सब तत्त्व नष्ट हो जाते हैं जिनमे त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते हैं। आहार पानी का लेना और उनसे मल, मूत्र, कफ, पित्त आदि का बनना ये ऐसे तत्त्व हैं जिनमें

(१) देखो जीवकाण्ड गाथा २००।

निरन्तर त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते हैं। इसलिये केवली जिनके शरीर में निगोदिया जीव नहीं होते इस मान्यता द्वारा पर्यायान्तर से केवली के भूख, प्यास और मल मूत्र आदि दोषों का ही निषेध किया है। हम संसारी जीवों के शरीर में त्रस और निगोदिया जीव मरे पड़े हैं। वे निरन्तर शरीर का शोषण कर रहे हैं जिससे शरीर में उष्णता पैदा होकर आहार पानी आदि की आवश्यकता पड़ती है। पर केवली के शरीर में इस प्रकार की उष्णता का कारण नहीं रहा। उनके शरीर का शोषण अब अन्य त्रस व निगोदिया जीवों के कारण नहीं होता अतः शरीर में आन्तर उष्णता पैदा होकर उनके शरीर का अपचय नहीं होता। और इसलिये प्रति समय उनके शरीर के जितने परमाणु निर्जीर्ण होते हैं उतना नवीन परमाणुओं का ग्रहण हो जाने से कवलाहार के बिना भी उनके शरीर की स्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार कर्म वर्गणाओं के आने और जाने से कार्मण शरीर की स्थिति होती है उसी प्रकार अब उनके नोकर्म वर्गणाओं के आने और जाने से शरीर की स्थिति होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि केवली जिन क्षुधादि दोषों से रहित हैं इसलिये वे कवलाहार नहीं लेते।

यहां एक शंका की जाती है कि जब केवली के क्षुधादि दोष नहीं होते तो तत्त्वार्थसूत्र में उनके ग्यारह परीषह क्यों बतलाई गई हैं?

बात यह है कि केवली के वेदनीय का उदय माना जाता है, इसलिये कारण में कार्य का उपचार करके केवली के ग्यारह परीषह बतलाई है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या अन्यत्र भी तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपचार से कथन किया है?

तत्त्वार्थसूत्रकार ने एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान कहा है। ध्यान का यह लक्षण शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों में घटता है अन्तिम दो भेदों में नहीं, क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चिन्ता ही नहीं रहती फिर निरोध किसका। तब भी ध्यान का कार्य कर्मक्षय देख कर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जिस प्रकार तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उपचार से कथन किया है उसी प्रकार केवली के ग्यारह परीषहों का कथन भी उपचार से जानना चाहिये।

एक बात और है वह यह कि जो भाई सर्वथा यह समझते हैं कि असाता के उदय से भूख प्यास लगती है उनका ऐसा समझना गलत है। भूख व प्यास अपने कारणों से उत्पन्न होती है। हाँ भूख व प्यास असाता के उदयादि में नोकर्म हो सकते हैं। हम संसारी जीवों की शरीर स्थिति भिन्न प्रकार की है और केवली जिन के भिन्न प्रकार की, अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें हम संसारी जनों के समान कवलाहार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एटा के कतिपय मूर्ति-लेख

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन D.L.M.R.A.S.]



संयुक्तप्रांत में एटा एक छोटा-सा शहर है; जो ग्रांड-ट्रंक-रोड पर बसा हुआ है। कहते है आज से लगभग ५५० वर्ष पहले पृथ्वीराज के वंशज चौहान राजपूत संग्रामसिंह ने एटा बसाया था। पहले यहाँ औरङ्गाबाद नाम का गॉव बसा हुआ था। यह मुस्लिम काल की बात है। संग्रामसिंह ने जब एटा की नींव डाली तो जमीन में भाला गाड़ने पर उसे एक ईंट मिली। इसी कारण उसने उसका नाम 'ईंटा' रखा, जो एटा हो गया! एक अन्य जनश्रुति से प्रकट है कि संग्रामसिंह ने इस स्थल पर एक लोमड़ी को कुत्ते का मुकाबिला बहादुरी से करते देख कर उसे 'एठां' (यह स्थान) आश्चर्य से कहा और इसी नाम से उसे आबाद कर दिया। इन जनश्रुतियों से आभास मिलता है कि संग्रामसिंह ने जिस स्थान को आबाद किया वह कोई प्राचीन उजड़ा हुआ स्थान था कि जहाँ भूगर्भ से ईंटें मिलती थीं। एटा खास से जो पुरानी मूर्तियॉ मिलीं हैं, उनसे भी यही प्रकट होता है कि संग्रामसिंह से पहले एटा किसी प्राचीन रूप में विद्यमान था। हमारा अनुमान है कि एटा का प्राचीन नाम 'इष्टिका' था। पहले यातायात के मार्गरूप बड़ी-बड़ी नदियाँ थीं। जमुना के द्वारा खूब व्यापार चलता था। आज जमुना किनारे इटावा वसा हुआ है, जिसका प्राचीन नाम 'इष्टिकापथ' है। संभव है कि एक समय इष्टिका (एटा) का नाविक स्टेशन इटावा रहा हो; इसी कारण वह इष्टिकापथ (Estika-Road) कहलाया। लोगों में आज भी एटा-इटावा समास का बहुधा प्रयोग हुआ मिलता है। इस दिशा में अन्वेषण की जरूरत है।

जो हो, एटा में ब्राह्मण-सम्प्रदाय प्रबल रहा। जब करीब दो-तीन सौ वर्षों पहले जैनियों ने अपना मंदिर बनाना चाहा तो ब्राह्मणों ने अड़गा डाला; परन्तु जिनेन्द्र भक्त श्रावकों ने धनबल और नीति कौशल से काम लेकर एक भव्य जिनमंदिर निर्माण करने में सफलता पाई। यही मंदिर आज 'बड़ा पंचायती मंदिर' कहलाता है। गत महावीर जयन्ती पर हम एटा ठहर गये थे। उस समय हमने इस मन्दिर का सूक्ष्म निरीक्षण किया। दर्याफ्त करने पर ज्ञात हुआ कि मदिर की कुछ प्राचीन मूर्तियॉ शायद तहखाने में रक्षा के लिये कभी रक्खी गईं थीं और अभी वहीं है। जो मूर्तियॉ बाहर वेदियों पर विराजमान है उनमें विशेष प्राचीन कोई नहीं है। प्रायः सबही मुख्य २ मूर्तियों के लेखों को हमने उद्धृत कर लिया था। इस कार्य में भाई जयन्तीप्रसादजी ने हमारी सहायता की; इसके लिये हम उनके आभारी है। पाठकों के परिज्ञानार्थ उन मूर्तिलेखों को हम यहाँ उपस्थित करते हैं :—

१ पार्श्वनाथ (धातु)—"सं० १३३५ वैशाख सुदी ११ साहु जैसिंह जी।"

२ पार्श्वनाथ (धातु)—"सं० १३८८ वैशाख सुदी ५ श्री मूलसंघे "

३ नेमिनाथ (धातु)—"सं० १४७७ वर्ष माघसुदी १० सोमे प्राग्वाट जातिये सा० दयाल भार्या नेमिनाथ बिम्बका प्रतिष्ठम् गच्छे वीरप्रभु सूरिभि ।"

४ आदिनाथ चौबीसी पट्ट (धातु)—"सं० १५०२ वैशाख सुदी ३ मूलसंघ भ० जिनचंद्रजी खंडेलवालान्वय वाकुलियावाल "

५ शान्तिनाथ (धातु)—"सं० १५२५ वर्षे माघवदी ५ श्रीमाल जातीये फलहृधिया गोत्रे सा० फामन भार्या जीवा पुत्र शाह देवा केन छात्र आवा सहितेन पुण्यश्रेयअर्थम् श्री शान्तिनाथ बिम्बका प्रतिष्ठितम् श्री धर्मघोष गच्छे श्री साधु रत्नसूरिभि ।"

६ पार्श्वनाथ (पाषाण)—"सं० १५४८ माघसुदी ५ जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति ।"

७ पार्श्वनाथ (पाषाण)—"सं० १५४८ वैशाख सुदी ६ मूलसंघे भ० श्रीजिनचंद्र देवान्वय जीवराज पापड़ीवाल प्रणमति सख्या (?) श्रीराजा जी शिवसंघ राज्ये ।"

८ आदिनाथ—"सं० १८८१ माघ शुक्ल ६ शुक्रवासरे काष्ठासंघे भ० श्रीजिनकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये श्री साधु हीरालाल बिम्बकम् प्रतिष्ठा करापित ।"

९ महावीर (कृष्ण पाषाण)—'सं० १८८१ मिती मगसिर सुदी ५ शुक्रवार काष्ठा-संघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० श्रीनयकीर्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोयलगोत्रे प्रयागनगरे वास्तव्य साधु श्री माणिकचंद्र पुत्र हीरालालेन कौसाम्बीपुरी निम्ब प्रतिष्ठापित ।"

१० चन्द्रप्रभ (पाषाण)—"वैशाख सु० ३ भट्टारक ।'

११ शान्तिनाथ (धातु)—"सं० १६३५ माघसुदी ३ भ० राजेन्द्रकीर्ति तदाम्नाये मिहरचंद प्रतिष्ठितम् इन्द्रप्रस्थ—दिल्ली ।"

१२ शान्तिनाथ (पाषाण)—"सं० १६५५ माघसुदी ९ सुंदरलाल मध्ये प्रतिष्ठित हाथरस ।"

१३ पार्श्वनाथ—"सं० १६५५ माघसुदी ९ प्रतिष्ठित हाथरस ।"

१४ शान्तिनाथ—"सं० १६५७ माघशुक्ल १ ।"

१५. नेमिनाथ—"सं० १९६४ माघसुदी १३ श्री कुंदकुंद उपदेशात्प्रतिष्ठितम् सेठ-मल अभेराम गोपीनाथ।"

१६. महावीर—"वीर नि० सं० २४६९ विक्रम सं० २००० वैशाखमासे शुक्लपक्षे १५ बुधवासरे दिल्लीनगरे।"

१७. सिद्ध परमेष्ठी धातु—"सं० १९७८ वैशाखशुक्ल १५ एटानगरे प्रतिष्टितं।"

केवल इस सिद्ध प्रतिमा में ही एटा नगर का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि एटा में सं० १९७८ में जिन बिम्ब प्रतिष्ठोत्सव हुआ था। अवशेष प्रतिमाएँ बाहर से लाकर वहाँ विराजमान की गईं प्रतीत होती है। नं० ९ के मूर्तिलेख से स्पष्ट है कि सं० १८८१ में कोशाम्बी में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा हुई थी, जिसमें प्रयाग निवासी श्रीहीरालाल जी ने उक्त मूर्त्ति प्रतिष्ठित कराई थी। नं० ११ की मूर्ति दिल्ली में श्रीमेहरचंद जी के मेले की सं० १९३५ की प्रतिष्ठित कराई हुई है। हाथरस में सं० १९५५ में बिम्ब प्रतिष्ठा हुई—उस समय की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ कई है। नं० १४ के मूर्तिलेख से स्पष्ट है कि सं० १९५७ में खुर्जा में जैन मेला हुआ था। इन मेलों में वैष्णवों ने कितना घोर विरोध किया था, यह एक ऐतिहासिक वार्त्ता है। श्रीमहावीर जी की मूर्ति अभी गतवर्ष दिल्ली से प्रतिष्ठा कराकर लाई गई है। हालमें ही चादी की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित कराकर विराजमान की गई है। इन मूर्तिलेखो में निम्न आचार्यों और भट्टारकों का उल्लेख उनकी आम्नाय सहित हुआ है :—

१. मूलसंघ (सं० १३८८)

२ वीरप्रभसूरिगच्छ (स० १४७७)—दिगम्बर संघों में इस नाम का कोई गच्छ है या था, यह अन्वेषण की चीज है।

३. मूलसंघी भ० जिनचन्द्र जी (सं० १५०२)

४. श्रीधर्मघोषगच्छे साधु रत्नसूरि—दिगम्बर संघों में इस गच्छ का भी पता लगाना चाहिये।

५. काष्ठासंघे भ० जिनकीर्त्ति (सं० १८८१)

६. काष्ठसंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वयी भ० नयकीर्त्ति के शिष्य भ० ललितकीर्त्ति (सं० १८८१)

७. भ० राजेन्द्रकीर्त्ति (सं १९३५)

प्राग्वाट, खंडेलवाल (वाकुलियावालगोत्र), श्रीमाल (फलहषिया गोत्र) और अग्रोत (अग्रवाल) नामक उपजातियो के उल्लेख भी इन लेखों में हैं। किन्तु आश्चर्य है कि इनमें कहीं भी पद्मावतीपुरवाल उपजाति का उल्लेख नहीं है, जब कि एटा उस जाति का केन्द्र है। मोड़ासा नगर के श्रीजीवराज जी पापड़ीवाल की प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमायें यहाँ भी है।

आठवीं शताब्दी में भारत के प्रधान राज्य*

[ले०—श्रीयुत प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०, एल० एल० बी०]

महासम्राट् हर्ष के पश्चात् की जो तीन शताब्दियों का उत्तर भारत का इतिहास बहुत कुछ अन्धकार में है। और जो भी कुछ प्रकाश साहित्य व शिलालेखों द्वारा प्राप्त हो सकता है वह बहुत वाञ्छनीय है। एक ऐसे ही प्रकाश की महत्त्वपूर्ण किरण हमें जैन लेखक जिनसेन द्वारा प्राप्त होती है। जिनसेन अपने हरिवंश पुराण में कहते हैं कि उन्होंने यह रचना वर्धमानपुर में श० स० ७०५ में समाप्त की। वे अपने समकालीन राजाओं तथा उनके राज्यों की सीमाओं का भी उल्लेख करते हैं। उनके प्रस्तुतोपयोगी पद्य निम्नानुसार हैं —

> शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
> पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
> पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
> सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
> कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे।
> श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
> पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
> शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥
>
> (सर्ग ६६)

इन लेखों का महत्त्व बहुत काल पहले से स्वीकार किया जा चुका है और वी स्मिथ, आर जी भंडारकर, सी वी वैद्य, एच सी ओझा और अलतेकर जैसे इतिहासकारों ने इनका उपयोग अपने अपने ग्रन्थों में किया है। परन्तु इनमें से किसी ने भी कवि द्वारा निर्दिष्ट राज्यों की सीमाओं का विवेचन नहीं किया और न उस नगर की खोज करने का कोई प्रयत्न किया जहां कि कवि ने रचना की थी और जो उल्लिखित राज्यों की सीमा पर स्थित होकर उन्हें अलग अलग करता था। उक्त इतिहासकारों की ऐसी कुछ धारणा दिखाई देती है कि जिनसेन ने बिना किसी निश्चित सीमा की जानकारी के उत्तर भारत की चारों दिशाओं के राज्यों का उल्लेख मात्र किया है। इस धारणा से कभी कभी बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ सी वी वैद्य पूर्व में राज्य करने वाले 'अवन्तिभूभृति' के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "ऐसा मालूम होता है कि अवन्तिभूभृति शब्द का अनुवाद अवन्ति का राजा ठीक नहीं है क्योंकि अवन्ति या मालवा पूर्व में नहीं हो सकता। उसका

---

* यह लेख मेरे पिता डा० हीरालाल जी जैन के "The chief political divisions of India during the eighth century" शीर्षक लेख का उनकी अनुमति से मेरे द्वारा किया हुआ अनुवाद है। —लेखक,

शुद्ध अनुवाद है राजा अवन्ति अर्थात् अवन्ति नाम के राजा।" (Mediaeval Hindu India Vol II, p, 101, 102;Poona 1924) परन्तु उन्होंने इस पूरे पर्व के अधिकारी राजा अवन्ति की किसी से समता नहीं बैठाई क्योंकि स्पष्टतया इतिहासानुसार ऐसा कोई राजा हुआ ही नहीं।

डा. ए. एन. उपाध्ये ने अभी अभी हरिषेण कृत वृहत् कथाकोष के संस्करण की प्रस्तावना में उस प्रधान स्थान को निश्चित करने का प्रयत्न किया है जिसका कि जिनसेन ने भारत के राजनैतिक विभाग के बारे में लिखते हुए उल्लेख किया है। (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४३)। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी अपनी रचना "जैन साहित्य और इतिहास" के 'आचार्य जिनसेन और उनका हरिवंश' शीर्षक में ऐसाही प्रयत्न किया है। (बम्बई १९४२) ये दोनों विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वह वर्धमानपुर जहां कि जिनसेन ने अपना हरिवंश पुराण लिखा था, काठियावाढ में स्थित वढवान ही है क्योंकि—"जिनसेन ने अपना हरिवंश वर्धमानपुर में उस समय लिखा जब कि इन्द्रायुध उत्तर में, कृष्णनृप का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण में, अवन्ति का राजा वत्सराज पूर्व में और पश्चिम में सौरमण्डल पर वीर जयवराह राज्य कर रहे थे। इसके १४८ वर्ष बाद हरिषेण एक विनायकपाल का सम्बन्ध वर्धमानपुर से बतलाते है। इस स्थान की स्थिति बंगाल या दक्षिण में मानने से उन उल्लेखों की यथार्थतः सिद्धि नहीं होती। परन्तु उसकी समता बढवान से बैठा लेने पर सब बातें समाधानतापूर्वक समझाई जा सकती हैं। कन्नौज के इन्द्रराज, जिनका कि राज्य, पर्याप्त अश में पशिचम दिशा में फैला हुआ मालूम होता है, की समता इन्द्रायुध से बैठाई जा सकती है; श्रीवल्लभ की द्वितीय गोविन्द से जो कि दक्षिण में राष्ट्रकूट राज्य के राजा कृष्ण प्रथम के पुत्र थे; अवन्ति के राजा वत्सराज की उसी नाम के गुर्जर प्रतिहार शासक से और वीर जयवराह, जिनके बारे में अन्यत्र से कुछ भी पता नहीं चलता, सौरमण्डल या सुराष्ट्र पर राज्य करते थे। ये दिशाएँ और शासक एकमात्र बढ़वान को ही लागू होती हैं।" (बृ० क० की प्रस्तावना पृ० १२१)

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इन चार राजाओं एवं उनके राज्यों पर और भी पूर्णतः अपने विचार प्रकट किये हैं और उनका मत भी यही है। इन्द्रायुध और वत्सराज के स्थानों तथा उनके राज्यों के बारे में प्रेमीजी का कथन निम्नानुसार है:—

"श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि ने अपनी 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत कथा जावालिपुर या जालोर (मारवाड) में जब श० सं० ७०० के समाप्त होने में एक दिन बाकी था तब समाप्त की थी, और उस समय वत्सराज्य का राज्य था। अर्थात् हरिवंश की रचना के समय (श० ७०५ में) तो (उत्तर) में मारवाड़ इन्द्रायुध के अधिकार में था और (पूर्व में) मालवा वत्सराज के अधिकार में। परन्तु इसके पांच वर्ष पहले (श० ७०० में) कुवलयमाला की

रचना के समय मारवाड़ का अधिकारी भी वत्सराज था। इससे अनुमान होता है कि पहले मारवाड़ और मालवा दोनों ही इन्द्रायुध के अधिकार में थे—पहले श० ७०० से पहले मारवाड़ और फिर श० ७०५ से पहले मालवा। उसके बाद ७०७ में ध्रुवराज ने मालवराज की सहायता के लिये चढ़ाई करके वत्सराज को मारवाड़ की अर्थात् जालोर की ओर खदेड़ दिया होगा और मालवे का पुराना राजा यह इन्द्रायुध ही होगा जिसकी सहायता ध्रुव ने की थी। यह निश्चित है कि कन्नौज का साम्राज्य, जो बहुत विस्तृत था और जिसमें मारवाड़ और मालवा भी शामिल थे, इसी वत्सराज के पुत्र नागभट्ट ने इसी इन्द्रायुध के पुत्र चक्रायुध से छीना था और इस प्रवृत्ति का प्रारंभ वत्सराज के समय से ही हो गया था। पहले ध्रुवराज ने इसमें बाधा डाली, परन्तु पीछे उक्त साम्राज्य प्रतिहारों के ही हाथ में चला गया। इन सब बातों से हरिवंश की रचना के समय उत्तर में इन्द्रायुध और पूर्व में वत्सराज का राज्य होना ठीक मालूम होता है। (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४२६-२७)

इन दोनों विद्वानों के कथनों पर सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है। विचार करने योग्य पहला विषय यह है कि क्या इन्द्रायुध का राज्य श० ७०५ में इस अंश तक पश्चिम की ओर फैला हुआ था कि वह वढवाण के उत्तर तक पहुंचा कहा जा सकता है। नक्शे की ओर देखने से पता चलता है कि वढ़वाण सौराष्ट्र या काठियावाड़ में ही स्थित है। उसके उत्तर में मारवाड़ का प्रदेश है और इस प्रदेश पर कभी इन्द्रायुध का राज्य सिद्ध करने के लिये कहीं कोई प्रमाण यत् किंचित् मात्रा में भी उपलब्ध नहीं है। उसके विपरीत प्रेमी जी उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला के उस उल्लेख की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि श० ७०० में मारवाड़ पर वत्सराज राज्य करता था। वर्धमानपुर की समता वढ़वाण से बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है उसे पार करने के लिये प्रेमी जी का अनुमान है कि जिनसेन के समय में इस राज्य में परिवर्तन हुए होंगे। इस तर्क में कुछ ऐसी भ्रान्ति है जिसके कारण जो सिद्ध किया जा रहा था उसके विपरीत सिद्ध होता है और यह सिद्ध करने के लिये कि इन्द्रायुध वढ़वाण के उत्तर का शासक था, कोई तर्क नहीं रह जाता। तत्कालीन इतिहास से हमें यह पता चलता है कि उस समय कन्नौज के राज्य पर उत्तर पश्चिम से काश्मीर के शासक का, और पूर्व से बंगाल या गौड़ के शासक का दबाव पड़ रहा था। इसलिए कन्नौज के राजा को अपने ही प्रदेशों की रक्षा करना कठिन हो रहा था और वह इस योग्य नहीं था कि कोई नये देश विजय करे। उसके विपरीत वत्सराज के प्रपितामह नागभट्ट या नागावलोक के द्वारा भिनमाल में स्थापित किया हुआ मारवाड़ का राज्य कन्नौज और आसपास के राज्यों को क्षति पहुंचाता हुआ उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा था। अवनीवर्मा चालुक्य के हड्डाला से उपलब्ध वि० सं० ८१३, श० ६७८ के ताम्रपट्ट लेख से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि नागावलोक का साम्राज्य दक्षिण

तरह घटित होती है। चक्रायुध का कन्नौज का राज्य ठीक उसके उत्तर में पड़ता है और राष्ट्रकूट राज्य, जैसा कि विदित ही है कि वह धार की सीमा को छूता था, बिलकुल उसके दक्षिण में होगा। अवन्ति का शासक उसके पूर्व में है और वत्सराज का राज्य जो, कि पश्चिम में सौरमण्डल या सौराष्ट्र से लगा हुआ था, उसके पश्चिम में। प्राचीन वर्धमानपुर को अर्वाचीन बदनावर के नाम से पहचानने में भी कोई कठिनाई नहीं है। जैसा कि पेशावर (पुरुषपुर), नरवार (नलपुर), और चन्दवार (चन्द्रपुर) के नामों में पाया जाता है, यह विदित ही है कि 'वार' प्राचीन 'पुर' का नया रूप है। वर्धमान का बदना में भ्रष्ट होना भी समझ में आता है। ब सहज ही व का स्थान ले लेता है, व्यंजन र्ध सरल तालव्य ड य दन्त द को स्थान दे देता है और म एक दूसरे नासिक अक्षर न के सन्निकर्ष में विलीन हो जाता है, किन्तु न के लिये अपना दीर्घदण्ड छोड़ जाता है। इस प्रकार वर्धमानपुर से हमें अर्वाचीन बदनावर या बडनावर नाम प्राप्त होता है।

इस तत्त्व पर पहुंचकर मैंने बिना किसी प्रकार भी अपनी खोज का संकेत दिये ही बदनावर के बारे में जाँच पड़ताल कराई। उसके प्रत्युत्तर में बदनावर के नंदलाल लोढा ने कृपा पूर्वक निम्नानुसार लिख भेजा है :—

"बदनावर का प्राचीन नाम वर्द्धनापुर था जिसकी साक्षी कुछ मूर्त्तियों के लेख से मिलती है। इसी का अपभ्रंश बुधनावर हुआ जो कि अभी भी कितनेक पत्रों से पता चलता है और अब बदनावर के वर्त्तमान नाम में लागू है। यहा पर प्राचीन किला (गढ) है जो अभी टूटी फूटी हालत में खड़ा है। गांव के किनारे बलवन्ती नदी बहती है। उत्तर की तरफ नदी के पार खेडा नामक ग्राम है जहां पर प्राचीन मूर्तियां मिलती हैं। यहां पर प्राचीन जैन प्रतिमा, चरण चौकी परिकर आदि भग्नावस्था में कितनी ही जगह मैंने संग्रह किये है और कितनी ही अन्य स्थानों पर रखी हुई हैं। प्राप्त किये हुए लेखों में से आवश्यकीय लेख उतार कर भेज रहा हूँ। उसमें वर्द्धमानपुर का भी नाम आया है। यह नाम क्यों आया यह मेरे ख्याल से बाहर है।"

लेख न० १

"संवत् ११२२ मघसुदी ६·········हरा दिनेश्च अद्येह वर्द्धनपुरे श्री सीमापुर वास्तव्य प्रनसलन देश्र ·····सेवा प्रणमति नित्य।"

यह लेख श्याम पाषाण की एक पुरुष स्त्री की मूर्ति की पाटली पर है। यह गांव के पश्चिम बाजू नागेश्वर नामक स्थान पर रखी हुई है।

लेख २

सं० १२१६ ज्येष्ठ सुदि ५ बुधे आ कुमारसेन चन्द्रकीर्ति वर्द्धमानपुरान्वये साधु वोहिव्व सुत माल्हा भार्या पाणू सुत पील्हा भार्या पाहुणी प्रणमति नित्यं।

उक्त लेख श्याम पाषाण की चरण चौकी पर लिखा हुआ है और जैन मंदिर के पास संगृहीत है।

लेख ३

सं० १२२६ वैशाख वदि ७ शुक्रे अद्येह वर्द्धनापुरे श्री शांतिनाथचैत्ये सा० भनन सा० गोशल ठ० आमदेव ठ० कणदेवादि कुटुम्बसहितेन निजगोत्रदेव्या श्री अछुप्ताया (अम्बिकाया ?) प्रतिकृति । कारिता श्री कुलचन्द्रोपाध्यायैः प्रतिष्ठिता।

यह लेख श्याम पाषाण की एक देवी की मूर्ति की पाटली पर है और देवी के सिर पर अरहंत की मूर्ति है। यह गांव के पूर्व बैजनाथ मंदिर में रक्खी हुई है।

लेख ४

सं० १२३४ वर्षे माघ सुदी ५ बुधे श्रीमान माथुरसंघे पंडिताचार्य-धर्मकीर्ति शिष्य ललितकीर्ति । वर्द्धमानपुरान्वये सा० आमदेव भार्या माहिणी सुता राणू मा० दिगम मा० याका सा० जाहड मा राणू भार्या मणिकसुत महण कीनू केलू आलू सा० महण भार्या रूपिणी सुत नेमि धाधा नीना यमदव पमा रामदेव सिरीचन्द्र प्रणमति नित्य।

यह लेख श्याम पाषाण की एक देवी की मूर्ति की पाटली पर है। यह मूर्ति बदनावर से पूर्व में अमला नामक ग्राम में गई हुई जैन मंदिर में स्थापित है। अमला पाच मील दूरी पर है।"

इन शिलालेखों से मुझे वर्धनपुर या वर्धनापुर बदनावर का ही शुद्ध संस्कृत रूपान्तर प्रतीत होता है। कुछ शताब्दियों में बदनावर पहले वर्धमानपुर से विकृत हुआ होगा, जब कि यथार्थ और प्राचीन नाम आम्नाय के नाम में सुरक्षित रह गया। यह आम्नाय जो कि पुन्नाट गण की शाखा है और जिसकी कि जिनसेन के समय में यहाँ नींव डाली गई थी, यहाँ तभी से चला आया प्रतीत होता है।

इस साम्य में एक ही कठिनाई रह जाती है। और वह यह कि जिनसेन ने अपनी प्रशस्ति के ४४ वें श्लोक में निकट ही शिव के लिये स्थित ऊर्जयन्तालय की देवी सिंहवाहिनी का उल्लेख किया है। वह श्लोक निम्नानुसार है —

> ग्रहीतचक्राऽप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी।
> शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने॥

स्पष्टतः यहाँ गिरनार या ऊर्जयन्त की प्रसिद्ध देवी अम्बिका की मूर्ति का उल्लेख है और साधारणतः यह बदनावर के निकट नहीं रखी जा सकती। परन्तु श्लोक और उसकी काव्य-कल्पना की ओर विशेष ध्यान देने से यह कठिनाई भी हल हो जाती है। यद्यपि बदनावर उर्जयन्त के बहुत निकट नहीं है, फिर भी वह उज्जैन के पास ही है और उज्जैन में

शिवजी का प्रसिद्ध महाकाल मन्दिर युगों से खड़ा है। सम्भवतः ऊर्जयन्तस्थ अम्बिका की मूर्त्ति की प्रतिकृति की स्थापना वर्धमानपुर में की गई होगी और इस घटना की ही कल्पना कवि इस प्रकार करते हैं कि मानों उस प्रदेश में अम्बिका शिव से मिलने को आई हों। इस प्रकार शिव शब्द में श्लेष है जिसका अर्थ शिव अर्थात् शंकर व क्षेम है। यह कल्पना श्लोक में विशेष सौंदर्य और कवित्व ला देती है। सम्भवतः सिंहवाहिनी देवी को एक जैन मुनि शिवार्थ उपस्थित हुई इसी प्रकार सोच सकता है। इस सम्बन्ध मे ऊपर दिया हुआ लेख नं० ३ ध्यान देने योग्य है। वह यह प्रकट करता है कि देवी अम्बिका की मूर्ति स्थापित करने का चलन वहां १२ वीं शताब्दि तक था।

प्रसंगवश जिनसेन ने सौराष्ट्र के नाम की उत्पत्ति की ओर एक नया संकेत किया है। इसके पहले तक सौराष्ट्र की उत्पत्ति 'सु + राष्ट्र' से मानी जाती थी और वह सौराज्य के अर्थ में लिया जाता था। (J. A. S. B., 1873 p. 105; N. L. Dey's Geographical Dictionary) जिनसेन का उसको 'सौराणामधिमंडल' के नाम से उल्लेख करना यह दर्शित करता है कि उस देश के पुराने रहवासी सम्भवतः इस कारण से कि वे सूर्य की पूजा करते थे, अपने को सौर कहते थे और उन्होंने वही नाम उस देश को भी दिया।

यही वदनावर या प्राचीन वर्धमानपुर वह नगर भी होना चाहिये जहां कि शक ८५३ में जिनसेन के १४८ वर्ष पश्चात् हरिषेण ने अपने कथाकोष की रचना की। यह अच्छी तरह ज्ञात है कि उस समय तक मध्य भारत और मालवा के राज्य को मिलाकर पूरा उत्तर भारत गुर्जर प्रतिहार भूपालों के आधिपत्य में आ गया था। उन नरेशों में से विनायकपाल सन् ९३१ या श० ८५३ में राज्य कर रहा था और ठीक उसी वर्ष में कथाकोष की रचना हुई थी। यद्यपि इन सम्राटों का आधिपत्य सौराष्ट्र तक फैला हुआ था फिर भी, जैसा कि प्रमाणित है, वराह राजाओं का राज्य उस प्रान्त में बना ही रहा जैसा कि हड्डाल से प्राप्त श० ८३६ के धारणीवराह के ताम्रपट्टों से स्पष्ट है। यदि हरिषेण ने वराह राजाओं की राजधानी वढवान में अपनी रचना की होती तो वे कम से कम अपने सम्राट् के साथ ही साथ प्रान्तीय राजा का उल्लेख करना भी न भूले होते। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि वढवान वह स्थान नहीं है जहॉ कि कथाकोष की रचना हुई।

यदि जिनसेन के वर्धमानपुर की समता वदनावर से ठीक सिद्ध होती है तो यह जिनसेन द्वारा उल्लिखित दूसरे स्थान की समता बैठाने में भी सहायक होना चाहिए। यह स्थान दोस्तटिका है जहाँ कि जिनसेन ने अपना हरिवंशपुराण पूरा किया और जिसकी खोज करने का प्रयत्न न पं० प्रेमी जी ने और न डा० उपाध्ये ने किया है। वदनावर के पश्चिम में कोई बारह मील की दूरी पर दोतरिया नाम का एक गांव है। यही स्थान मुझे उस दोस्तटिका का अर्वाचीन रूप प्रतीत होता है, जहॉ कि जिनसेन ने अपने वर्धमानपुर छोड़ने के समय तक अपूर्ण हरिवंश की रचना पूरी की थी।

इस नये नाम की पुराने नाम से तुलना करने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि पहला नाम दोस्तरिका रहा होगा। यह नाम पहले उसके पूर्व की ओर बहती हुई नदी बागेडी को दिया गया होगा जो कि इतनी गहरी होगी कि 'भुजाओं से पार की जाय'। उसके सबंध से गाव भी उसी नाम से पुकारा जाने लगा होगा। या फिर उस ग्राम का यथार्थ नाम द्वितटिका रहा होगा, पीछे वह दोतटिका में विकृत हुआ और फिर उसका भ्रान्त सस्कृत रूपान्तर दोस्तटिका हुआ। इस नाम की सार्थकता यह हो सकती है कि गाव के दोनों तरफ नदी किनारा है, क्योंकि यह गाव माही और बागेडी दो नदियों के मध्य बसा है। माही गाव से एक मील की दूरी पर बहती है और इसी में बागेड़ी नदी गॉव से कुछ दूर जाकर मिली है। दोतरिया के विषय में लिखते हुए नन्दलाल जी लोढा ने मुझे निम्नानुसार लिख भेजा है —

"दोतरिया बदनावर से पश्चिम दिशा में १० मील की दूरी पर है। गाव के पास बागेड़ी नदी बहती है और एक मील की दूरी पर माही नदी बहती है। बागेड़ी कुछ दूर जाकर बोरदा के पास माही में मिली है। दोतरिया के पास माही नदी जो है उसके पश्चिम तरफ गुजरात वा पूर्व की तरफ मालवा की सीमा की शुरूआत मानते हैं।"

इस भांति दोतरिया अभी भी मालवा और गुजरात की सीमा पर है।

ब्रह्मगुलाल चरित्र

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

कन्नड़, तामिल, अपभ्रंश, और हिन्दी इन चार भाषाओं का साहित्य दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा रचित बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं भारतीय साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखने योग्य है। तामिल साहित्य के सम्बन्ध में प्रो० चक्रवर्ती की पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी और उसके कुछ हिस्से का हिन्दी भाषान्तर अनेकान्त में प्रकाशित हुआ था। कन्नड़ जैन साहित्य के सम्बन्ध में कुछ लेख अनेकान्त एवं जैन सिद्धान्त भास्कर आदि में प्रकाशित हुए थे पर उनका परिवर्द्धन कर के एक स्वतन्त्र पुस्तक निकालना अत्यन्त आवश्यक है। अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में भी कई लेख अवश्य प्रकाशित हुए हैं पर अपभ्रंश साहित्य का इतिहास जो कि भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है, बहुत शीघ्र ही प्रकाश में आना चाहिये। हिन्दी भाषा में दिगम्बर साहित्य बहुत विस्तृत है छोटी बड़ी सहस्राधिक रचनाएँ दि० विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी भाषा में पाई जाती हैं। पर बहुत वर्ष पूर्व प्रेमीजी ने हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित किया था उसके पश्चात् कोई सुन्दर रचना अभी तक प्रकाश में नहीं आई। कई पत्रिकाओं से ज्ञात हुआ कि इस विषय में एक दो विद्वान् काम कर रहे हैं पर मेरे नम्र मतानुसार उनका वह प्रयास जैसा ठोस चाहिए नजर नहीं आता। दिगम्बर भण्डारों की छानबीन जब तक साहित्य के इतिहास का लेखक स्वयं न कर ले तब तक केवल प्रसिद्ध थोड़े से ग्रन्थों का विवेचन कर देने मात्र से ही पूरा इतिहास नहीं कहा जा सकता। पं० परमानन्दजी ने कुछ भंडारों की खोज अवश्य की है पर अभी तक तो मुकम्मल सूची भी नहीं बन पाई है अतः दिगम्बर समाज का सब से पहला कर्त्तव्य है कि ८-१० विद्वानों को भारत के विभिन्न स्थानों के दिगम्बर भण्डारों के आवश्यक विवरण सह सूची तैयार करने के लिये नियुक्त करे और उनकी खोज के आधार से दिगम्बर जैन ग्रन्थ--सूची प्रकाशित की जाय। वीर-सेवा-मंदिर-सरसावा द्वारा इसका प्रयत्न चालू है पर वह इतनी मंद गति से चल रहा है कि वर्षों में भी जैसा चाहिये कार्य होना संभव नहीं प्रतीत होता; इस बृहद् कार्य मे एक दो विद्वानों के लगने से ही काम नहीं चलेगा, अतः कार्य की गुरुता पर विचार कर पाँच-सात विद्वान् तो इसी एक कार्य के लिये वर्ष भर के लिये रोके जाँय, यह बहुत ही आवश्यक है उसके बाद अपभ्रंश एवं हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास लिखा जाय तो ज्यादा सुन्दर होगा पर इसी बीच में भी यदि ये ग्रन्थ प्रकाशित किये जाँय तो उनके लेखकों को उचित है कि वे अभी तक जिन २ भंडारों की सूची बन चुकी है—दिल्ली, जयपुर आदि के भंडारों का स्वयं कुछ महीने रह कर अन्वेषण कर के (ग्रन्थों को स्वयं देख के फिर उसे) प्रकाशित करें अर्थात् जितने ग्रन्थों का अभी तक पता चला है उनके विषय में तो आवश्यक जानकारी छूटने न पावे और भूल भ्रान्ति न रहे यह ध्यान में रखा जाय। किसी भी ग्रन्थ को

स्वय जाँच पडताल किये बिना दूसरो के देखा देखी लिख देने मे भूल और भ्रान्ति होने की पूरी सभावना रहती है जिसका एक ताजा उदाहरण इस लेख में दिया जा रहा है। अनेकान्त वर्ष ४ अ० ८ में ब्रह्मगुलाल चरित्र का रचना काल सं० १६०६ बतलाया है पर विशेष विचार करने पर इसका समय स० १९०९ ही उचित जान पडता है। इस ग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है।

ग्रन्थ-परिचय

ब्रह्मगुलाल चरित्र एक ऐतिहासिक काव्य है इसमें पद्मावती पुरवाल जाति के ब्रह्मगुलाल नामक दि० मुनि का चरित्र २४ खडो मे दिया गया है। खडों के अत में जो निर्देश किया गया है उससे ग्रन्थ के विषय का भली भाँति परिचय हो जाता है अत खण्डो के नाम निर्देशात्मक उल्लेख नीचे दिये जाते हैं—

१ इति ब्रह्मगुलालचरित्रे मध्यदेश पुर शोभा रूप प्रथम प्रभाव ।

२ ,, कर्मभूमि उतिपति, वशस्थापन विधि वरनन ।

३ ,, सोमवश मे वनिकवृत्ति ग्रहन, पद्मावतीपुरवार अस्य तिनमें धारेनि की होनि टापे में वास, प्रग (दिगर !) हल्ल उतपति वरनने तृतीया सिध (सधि)।

४ हल्ल वाहिर गमन, ग्रह परिवार दाह, हल्ल आगमन राजसम्मान, राजद्वार निवास वरननो चतुथम सधे।

५ हल्लविवाह राजा उपाय विचारन वहुरिउपाय करन निध विवाह वरनन रूप पचमसधि।

६ दपति कामभोग, पुत्रजन्म अत्सव, सरीर सोभा वर्नन छट्टी सधि।

७ ब्रह्मगुलाल बालक्रीडा, विद्याभ्यास वरनन रूप (सप्तमसधि)।

८ अनेक स्वाग धारन प्रवर्ति वहुरि वहुजना वरजन थकी ग्रह चारजि प्रति वरन अष्टम सधि।

९ ग्रह प्रवर्ति तथा विरह विध वनन नवम सधि।

१० बसत रति आगमन महिमा बहुरि ब्रह्मगुलाल स्वाग धरनन वरननरूप (दस)म सधि।

११ ब्रह्मगुलाल सिंघ, स्वाग करन सभाप्रवेश, राज्यपुत्र मरन वरनन रूप।

१२ ब्रह्मगुलाल रुच कि प्रवर्त प्रश्नोत्तर सवाद द्वादशम सधि।

१३ राजा सोग, मत्री वचनतें उपसम, वहुरि मत्री राजा सो मुनि स्वाग पेरक वचन, राज प्रमान करन वरननरूप तेरम प्रभाव।

१४ राजा निकट बुलाय मुनि भेष धारन आदेश ब्रह्मगुलाल अगीकार, पश्चात कुटुबी जन मग्न वरनन रूप चौदम संधि।

भरथ माहि सुभ आरज खेत, मध्य देश तामहि छवि देत।
सुरसर की दक्षिण दिशा जोय कालिंदी की उत्तर होय।६।
सूर देश के निकट निहार, टापौ नाम वसें पुर सार।

अनेकान्त वर्ष ४ अ० ८ के पृ० ४०२ से ७६ में देहली के सेठ के कुचे के जैनमंदिर के ग्रन्थों की सूची प्रकाशित हुई है उसमें "ब्रह्म गुलाल चरित्र—कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल, हिन्दी पद्य पत्र ३२ (रचना सवत् वी० १९०६" छपा है। मुझे ग्रन्थ के नाम से उसके ऐतिहासिक होने की सभावना प्रतीत हुई अत दिल्ली जाने पर उक्त ग्रन्थ को देखा तो भाषा आदि को ध्यान में रखते हुए वह ग्रन्थ स० १९०६ का नहीं है, ऐसा प्रतीत हुआ तथा उसके ऐतिहासिक होने की सभावना ठीक ही निकली अत विशेष अध्ययन कर ब्रह्मगुलाल के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी प्रकट करने की इच्छा हुई और श्रीयुत् पन्नालाल जी जैन अग्रवाल द्वारा प्रति मगवाके इस लेख में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला जा रहा है अत श्रीपन्नालाल जी का मैं आभारी हू।

ऐतिहासिक साहित्य निर्माण मे दि० विद्वानो की अपेक्षा श्वेताम्बर विद्वानों ने अधिक लक्ष्य रखा है अत श्वेताम्बर समाज में विस्तृत पट्टावलियें, ऐतिहासिक सस्कृत काव्य, प्रबंध, भाषामें रास, चौपई, भास, धवलगीत, इसी प्रकार तीर्थों के इतिहास के सम्बन्ध में भी तीर्थमालायें, चैत्यपरिपाटी, सघ यात्रा वर्णन, स्तवनादि विविध ऐतिहासिक सामग्री बहुत ही विशाल परिमाण में पाई जाती है तब दिगम्बर समाज म इस प्रकार के साहित्य का अभाव सा नजर आता है। हिन्दी भाषा म दि० विद्वानो द्वारा रचित काव्यों मे अद्यावधि साहित्य ससार में अर्द्धकथानक का ही पता था अत ब्रह्मगुलाल चरित्र की उपलब्धि महत्व की बात है यद्यपि यह ग्रन्थ समसामयिक एव विशेष घटनापूर्ण ग्रन्थ नहीं है फिर भी एक नई जानकारी प्राप्त होने के कारण महत्व का है काव्य की दृष्टि मे भी ग्रन्थ सुन्दर है।

जैनाचार्य ऋषिपुत्र का समय और उनका ज्योतिष-ज्ञान

[ले०—श्रीयुत न्याय-ज्योतिष तीर्थ पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न]

जैनाचार्य ऋषिपुत्र ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके वंशादि का सम्यक् परिचय नहीं मिलता है, पर Catalogus Catalagorum में इनके सम्बन्ध में बताया गया है कि "This is Kraushtuki, The son of Garga." इससे स्पष्ट है कि यह जैनाचार्य गर्ग के पुत्र थे। जैनाचार्य गर्ग ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अभी हाल में जब मैं पटना खुदाबख्शखाँ पब्लिक लाइब्रेरी में गया था तो मुझे वहाँ इन्हीं गर्गाचार्य का एक ज्योतिष-ग्रन्थ "पाशकेवली" नाम का मिला है। यद्यपि यह ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध है, पर इसमें जैन ज्योतिष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसके अन्त में लिखा है कि—

"जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं निर्णीतं यं सत्पाशात्रकेवली॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना॥

शनैर्गुडलिकां दत्त्वा पूजापूर्वकमथवाकुमारीं भव्यास्थासने स्थापयित्वा पाशको ढाल्यते पश्चाच्छुभाशुभं ब्रवीति—इति गर्गनामामहर्षिविरचितः पाशकेवली सम्पूर्णः॥"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गर्गाचार्य ज्योतिषशास्त्र के बड़े भारी विद्वान् थे, इसलिये बहुत कुछ संभव है कि इन्हीं के वंश में आचार्य ऋषिपुत्र भी हुए हों। लेकिन निश्चित प्रमाण के अभाव में उनके वंश का निर्णय करना ज़रा टेढ़ी खीर है। जैनेतर ज्योतिष-ग्रन्थ, वाराही-संहिता और अद्भुतसागर में इनके जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे इनकी ज्योतिष सम्बन्धी विद्वत्ता और समय निर्णय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ज्योतिषशास्त्र के विभिन्न अङ्गों में से आचार्य ऋषिपुत्र ने निमित्तशास्त्र—शकुनशास्त्र और संहिताशास्त्र—ग्रहों की स्थिति द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन फल, भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, गृहप्रवेश, उल्कापात, गन्धर्वनगर एवं ग्रहों के उदयास्त का फल आदि बातों के प्रतिपादक शास्त्र का प्रणयन किया है। Catalogus Catalagorum में इनकी एक संहिता का भी उल्लेख है। उसमें बताया है कि "ऋषिपुत्र संहिता—quoted in Madanaratna." अर्थात् मदनरत्न नामक ग्रंथ में ऋषिपुत्र संहिता का उल्लेख है, पर आज वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में कई संस्कृत ग्रन्थों के सूचीपत्र

(Catalogues) हैं, उनमें किसी में भी ऋषिपुत्र संहिता का नाम नहीं है, इससे मालूम पड़ता है कि वह अमूल्य निधि नष्टप्राय है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से मालूम होगा कि शकुनशास्त्र और संहिताशास्त्र का प्रचार ईस्वी सन् की ७वीं शताब्दी और ११ वीं शताब्दी के मध्य में विशेषरूप से हुआ है। इस काल में स्वतन्त्र ग्रन्थ तो लिखे ही गये पर उक्त विषय के कई संग्रह ग्रंथ तथा भाष्य भी लिखे गये, जिनमें आज केवल दो चार ही उपलब्ध हैं। आचार्य ऋषिपुत्र के अन्यत्र उपलब्ध उद्धरणों से पता चलता है कि इनके भी उपर्युक्त विषयों के कई ग्रन्थ थे, लेकिन अभी तक इनका एक निमित्तशास्त्र ही उपलब्ध हुआ है, जिसका प्रकाशन एवं सम्पादन प० वर्धमान शास्त्री शोलापुर ने किया है। वाराही संहिता और अद्भुतसागर में प्राप्त इनके विपुल उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है।

जैनाचार्य ऋषिपुत्र के महत्त्वपूर्ण उद्धरण बृहत्संहिता की भट्टोत्पली टीका में हैं और भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका में अपने सम्बन्ध में बताया है कि 'फाल्गुनस्य द्वितीयायामसितायां गुरोर्दिने। वस्वष्टाष्टमिते शाके कृतेयं विवृतिर्मया।' अर्थात् शक ८८८ में बृहज्जातक की टीका रची है, तथा बृहत्संहिता की टीका इससे भी पहले बनाई गई है। संहिता की टीका में इन्होंने आर्यभट, कणाद, काश्यप, कपिल, गर्ग, पाराशर, बलभद्र, ऋषिपुत्र, भद्रबाहु आदि कई जैनाजैन आचार्यों के वचन उद्धृत किये हैं. इस टीका से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि भट्टोत्पल ने अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी संहिताकारों की रचनाओं का अध्ययन कर उक्त टीका लिखी है। आचार्य ऋषिपुत्र के वचन राहुचार के प्रतिपादन में निम्न प्रकार उद्धृत किये गये हैं—

यावतोऽशान् प्रसित्येन्दोरुदयत्यस्तमेति वा।
तावतोऽशान् पृथिव्यास्तु तम एव विनाशयेत्॥
उदयेऽस्तमये वापि सूर्यस्य ग्रहणं भवेत्।
तदा नृपभयं विन्द्यात् परचक्रस्य चागमम्॥
चिरं गृह्णाति सोमार्कौ मध्ये वा ग्रसते यदा।
हन्यात् स्फीतान् जनपदान् वरिष्ठांश्च जनाधिपान्॥
मैथ्येण तत्र जीवन्ति नराश्चाम्बुफलेन वा।
भयदुर्भिक्षरोगैश्च सम्पीड्यन्ते प्रजास्तथा॥

—संहि० पृ० पृ० १३४-१३५

उपर्युक्त पद्य आचार्य ऋषिपुत्र के नाम से अद्भुतसागर के 'राहोरद्भुतवार्त्त:' नामक अध्याय में "अथ चिरग्राससर्वग्रासयोः फलम् तत्र ऋषिपुत्रः" इस प्रकार लिख कर दो स्थानों में उद्धृत किये गए हैं। इन श्लोकों में "शस्यैनं तत्र जीवन्ति नरा मूलफलोदकैः" इतना और अधिक पाठ मिलता है। इन्हीं पद्यों से मिलता-जुलता वर्णन इनके "प्राकृत निमित्त-शास्त्र" में हैं; पर वहाँ की गाथाएँ छाया नहीं हैं। अस्तु, उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट है कि आचार्य ऋषिपुत्र भट्टोत्पल के पूर्व अर्थात् शक सं० ८८८ के पहले विद्यमान थे और शक सं० की ८ वीं तथा ९ वीं शताब्दी में इनकी रचनाएँ अत्यन्त लोकादृत थीं। सर्वत्र उनका प्रचार था। इसका एक सबल प्रमाण यह भी है कि शक सं० १०८२ में राजगद्दी पाने वाले मिथिलाधिपति महाराज लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराज बल्लालसेन द्वारा शक सं० १०९० में संग्रहीत अद्भुतसागर में वराह, वृद्धगर्ग, देवल, यवनेश्वर, मयूरचित्र, राजपुत्र, ऋषिपुत्र, ब्रह्मगुप्त, बलभद्र, पुलिश, विष्णुचन्द्र, प्रभाकर[1] आदि अनेक आचार्यों के वचन संग्रहीत हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आचार्य ऋषिपुत्र का समय शक सं० की ९ वीं शताब्दी के पहले है; पर विचारणीय बात यह है कि कितना पहले माना जाय।

आचार्य ऋषिपुत्र के समय निर्णय में भारतीय ज्योतिषशास्त्र के संहिता सम्बन्धी इतिहास से बहुत सहायता मिलती है, क्योंकि यह परम्परा शक सं० ४०० से विकसित रूप में है। वराहमिहिर ने, जिनका समय लगभग शक सं० ४२७ के माना जाता है, बृहज्जातक के २६ वें अध्याय के ५ वें पद्य में कहा है कि—"मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।" इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर के पूर्व संहिता और होरा सम्बन्धी परम्परा वर्त्तमान थी। इसीलिये उन्होंने बृहज्जातक में मय, यवन, विष्णुगुप्त, देवस्वामी[2], सिद्धसेन[3], जीवशर्मा, सत्याचार्य आदि कई महर्षियों के वचनों का खण्डन किया है। संहिताशास्त्र की प्रौढ़ रचनाएँ यहीं से आरम्भ हुई है। वराहमिहिर के बाद कल्याणवर्मा ने शक सं० ५०० के आस-पास सारावली नामक होरा ग्रन्थ बनाया; जिसमें इन्होंने वराहमिहिर के समान अनेक आचार्यों के नामोल्लेख के साथ कनकाचार्य और देवकीर्त्तिराज का भी उल्लेख किया है। संहिता संबंधी अनेक बातें सारावली में पाई जाती हैं; इस काल में अनेक जैन और जैनेतर आचार्यों ने संहिता शास्त्र की प्रौढ़ रचनाएँ स्वतन्त्र रूप में की हैं। इन रचनाओं की परस्पर तुलना करने पर प्रतीत होगा कि इनमें एक का दूसरे पर बड़ा भारी प्रभाव है। उदाहरण के लिये गर्ग, वराहमिहिर और ऋषिपुत्र के एक-एक पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

१ यह प्रतिष्ठाकल्प के रचयिता प्रभाकर देव मालूम पड़ते हैं।

२ यह आचार्य जैन मालूम पड़ते हैं; मुझे सन्देह है कि यह प्रसिद्ध देवसेन स्वामी ही तो नहीं हैं?

३ यह आचार्य नमस्कार माहात्म्य के रचयिता मालूम पड़ते हैं।

शशशोणितवर्णाभो यदा भवति भास्कर
तदा भवति संग्राम, घोरा रुधिरकर्दमा ॥

—गर्ग

शशिरुधिरनिभे भानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामा ।

—वराहमिहिर

ससलोहिवण्णहोवरि संकुणु इत्ति होइ णायव्वो ।
संगाम पुण घोर खग्गं सूरो णिवेदेई ॥

—ऋषिपुत्र

इसी प्रकार चन्द्रमा से प्रतिपादित फल में भी बहुत स्थलों में समानता मिलती है। ऋषिपुत्र के निमित्तशास्त्र का चन्द्रप्रकरण संहिता के चन्द्राचार अध्याय से लगभग मिलता जुलता है। इस प्रकार के फल प्रतिपादन की प्रक्रिया शक सं० की ५-६ वीं शताब्दी में प्रचलित थी। वृद्धगर्ग के निम्न पद्य निमित्तशास्त्र की निम्न गाथाओं से एकदम मिलते हैं—

कृष्णे शरीरे सोमस्य शूद्राणां वधमादिशेत् ।
पीते शरीरे सोमस्य वैश्यानां वधमादिशेत् ॥
रक्ते शरीरे सोमस्य राज्ञां च वधमादिशेत् ।

—वृद्धगर्ग,

किण्पाए देह भय वाहिरएणो सदा णिवेदेई ।
पीओ खत्तियणास धूसरवण्णो य वयसाने ॥२८॥
किंण्णो सुद्द विणासो चित्तलवण्णेय हवइ पयईऊ ।
हहिलीरसरवण्णो सन्त्रम्हिय पाहिदो चदो ॥२९॥

—ऋषिपुत्र

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन का तात्पर्य यही है कि संहिताकाल की प्राय समी रचनाएँ मिलती जुलती हैं। इस काल के लेखकों ने नवीन बातें बहुत थोड़ी कही हैं। तथा फल प्रतिपादन की प्रणाली भी गणित पर आश्रित नहीं है, केवल ग्रहों के बाह्य निमित्तों को देखकर फल बताया गया है। इस काल में भौम, दिव्य, और अन्तरिक्ष, इन तीन प्रकार के निमित्तों का विशेष रूप से वर्णन किया है। यथा—

दिव्यान्तरिक्ष भौमं तु त्रिविध परिकीर्त्तितम् ।

—अद्भुतसागर, पृ० ६

वराहीसंहिता में इन तीनों निमित्तों के सम्बन्ध में लिखा है कि "भौम चिरस्थिरभव तच्छा-न्तिभिराहत शममुपैति । नाभसमुपैति मृदुता क्षरति न ... वदन्त्येके ...सी प्रकार आचार्य

ऋषिपुत्र ने "जे दिट्ठभुविरसएण जे दिट्ठा कुहमेणकत्ताणं। सदसंकुलेन दिट्ठा नऊसट्ठिय ऐएण णाणधिया॥" इत्यादि वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि संहिताकाल की इस प्रकार की रचनाओं का समय ईस्वी सन् की ५ वीं और ६वीं शताब्दी है, क्योंकि इस काल का संहिता का विषय ज्योतिष-शास्त्र की मर्मज्ञता की दृष्टि से अविकसित रूप में है। हाँ, वराहमिहिर की रचनाएँ अवश्य परिमार्जित हैं। वराहमिहिर से पहले की रचनाएँ संक्षिप्त सूत्ररूप में लिखी गई थीं, पर ७ वीं शताब्दी से इन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखना आरम्भ हुआ है तथा इस विषय की विस्तृत रचनाएँ भी प्रारम्भ हुई हैं। अतः ऋषिपुत्र का समय संहिताकाल की शताब्दियों मे है। इनकी रचना की संक्षिप्तता को देख कर अनुमान होता है कि इनका समय वराहमिहिर से पूर्व होना चाहिये।

आचार्य ऋषिपुत्र के नाम से अद्भुतसागर में जो निम्न श्लोक आये हैं, उससे इनके समय निर्णय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है—

गर्गशिष्या यथा प्राहुस्तथा वक्ष्याम्यतः परम्।
भौमभार्गवराहर्ककेतवो यायिनो ग्रहाः।
आक्रन्दसारिणामिन्दुर्ये शेषा नागरास्तु ते।
गुरुसौरबुधानेव नागरानाह देवलः॥
परान् धूमेन सहितान् राहुभार्गवलोहितान्।

इन पद्यों में गर्गशिष्य और देवल इन दो व्यक्तियों के नामों का उल्लेख किया गया है। यहाँ गर्गशिष्य से आचार्य को कौन अभिप्रेत है? यह नहीं कहा जा सकता, पर द्वितीय व्यक्ति देवल की रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि यह वराहमिहिर से पूर्ववर्ती है। क्योंकि अद्भुतसागर के प्रारम्भ में ज्योतिष के निर्माता आचार्यों की नामावली कालक्रम के हिसाब से दी गई प्रतीत होती है। इसमें वृद्धगर्ग, गर्ग, पाराशर, वशिष्ठ, बृहस्पति, सूर्य, बादरायण, पीलुकार्य, नृपपुत्र, देवल, काश्यप, नारद, यवन, वराहमिहिर, वसन्तराज आदि आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य ऋषिपुत्र देवल के पश्चात् और वराह-मिहिर के पूर्ववर्ती हैं। दोनों की रचना पद्धति से भी यह भेद प्रकट होता है। क्योंकि विषय प्रतिपादन की जितनी गम्भीरता वराहमिहिर मे पाई जाती है, उतनी उनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों में नहीं।

यदि Catalogus Catalagorum के अनुसार आचार्य ऋषिपुत्र के पिता जैनाचार्य गर्ग मान लिये जायँ तब तो उनका यह समय निर्विवाद सिद्ध हो जाता है; क्योंकि गर्गाचार्य वराहमिहिर से बहुत पूर्व हुए हैं।

आचार्य ऋषिपुत्र का ज्योतिष-ज्ञान

आचार्य ऋषिपुत्र फलित ज्योतिष के विद्वान् थे गणित सम्बन्धी इनकी एक भी रचना का पता अब तक नहीं लगा है तथा इनकी उपलब्ध रचनाओं से भी इनकी गणित विषयक विद्वत्ता का पता नहीं चलता है। इन्होंने निमित्तात्मक ज्योतिष में से केवल संहिता विषय के ऊपर ही रचनाएँ की हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ होने के कारण विषय की गम्भीरता नहीं है, पर तो भी सूत्ररूप में संहिता के सभी विषयों का प्रतिपादन किया है। शकुनशास्त्र के भी ये निर्माता हैं, इन्होंने अपने निमित्तशास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देने वाले, आकाश में दृष्टिगोचर होने वाले और विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई पड़ने वाले, इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। ऋषिपुत्र ने आकाश सम्बन्धी निमित्तों को बतलाते हुए लिखा है कि "सूरोदय अत्थमणे चंदमसरिक्खमग्गहचरियं। त पिच्छिय णिमित्तं सव्वं आएसिहं कुणह॥" अर्थात् सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के पीछे चन्द्रमा, नक्षत्र और ताराओं के मार्ग को देख कर फल कहना चाहिये। वर्षोत्पात, देवोत्पात, राजोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों के शुभाशुभत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। आचार्य ऋषिपुत्र के निमित्तशास्त्र में सब से बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय 'मेघयोग' का है। इस प्रकरण में नक्षत्रानुसार वर्षा के फल का अच्छा विवेचन किया है। आचार्य लिखते हैं कि प्रथम वृष्टि कृत्तिका नक्षत्र में हो तो अनाज की हानि, रोहिणी में हो तो देश की हानि, मृगशिरा में हो तो सुभिक्ष, आर्द्रा में हो तो खण्डवृष्टि, पुनर्वसु में हो तो एक माह वृष्टि, पुष्य में हो तो श्रेष्ठ वर्षा, आश्लेषा में हो तो अन्न हानि, मघा और पूर्वाफाल्गुनी में हो तो सुभिक्ष, उत्तराफाल्गुनी और हस्त में हो तो सुभिक्ष और नगर प्रसन्नता, विशाखा और अनुराधा में हो तो अत्यधिक वर्षा, ज्येष्ठा में हो तो वर्षा की कमी, मूल में हो तो पर्याप्त वर्षा, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा और श्रवण में हो तो अच्छी वर्षा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद में हो तो अधिक वृष्टि और सुभिक्ष एवं रेवती, अश्विनी और भरणी में हो तो पर्याप्त वृष्टि के साथ अन्न भाव श्रेष्ठ रहता है और प्रजा सब तरह से सुख प्राप्त करती है। वाराही-संहिता की भट्टोत्पली टीका के उद्धरण में समस्त गुरु, शुक्र के फल का प्रतिपादन ऋषिपुत्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ गुरु शुक्र की समय दृष्टि से फल बतलाया गया है। इससे उनके असाधारण ज्योतिष ज्ञान का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। इन्हें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का भी ज्ञान था, पर इन्होंने लिखा उनका फल ही बतलाया है। आज के गणित के सूक्ष्मतत्त्वों से यह अपरिचित थे संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये संहिताशास्त्र के मूल मूल विषयों से सम्यक् परिचित थे।

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा

[भाग ११ किरण २ से आगे]

[ले०— न्यायाचार्य श्रीयुत पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया]

---

४ निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति में बाह्य तपों के निम्न ६ भेद गिनाये हैं—१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिसंख्यान, ४ रसत्याग, ५ कायक्लेश और ६ संलीनता। जैसा कि उनकी इस गाथा से प्रकट है :—

अणसणमूणोअरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

भद्रबाहु द्वारा वर्णित बाह्य तपों के ये छहों भेद श्वेताम्बर श्रुत के ही अनुसार हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में इसी प्रकार ६ भेद बतलाये हैं। यथा—

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणया बज्झो तवो होई॥

—व्याख्या प्र० श० २५ उ० ७ सू० ८०२।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार निम्न प्रकार से ६ भेद गिनाते हैं :—

"अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।"

—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९।

इनमें निर्युक्ति और श्वे० श्रुतसम्मत 'संलीनता' तप नहीं है, किन्तु उसके स्थान में 'विविक्तशय्यासन' है। यद्यपि हरिभद्रसूरिने 'संलीनता' के इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता और विविक्तचर्या ऐसे चार भेद बतलाए है, पर इन चार भेदों में भी विविक्त शय्यासन नहीं है। यह तो स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है कि विविक्तचर्या द्वारा भी विविक्तशय्यासन का ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज़ है और विविक्तशय्यासन अलग चीज़ है। अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने श्वे० श्रुत-सम्मत 'संलीनता' तप को अपने उल्लिखित बाह्य तपों में स्थान नहीं दिया है और इस तरह हम यहाँ भी उन्हें भद्रबाहु की तरह श्वे० श्रुतका अनुसर्ता नहीं पाते हैं।

५. निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'अरई अचेल इत्थी' कह कर 'अचेल परीषह' बतलाई है। उत्तराध्ययन सूत्रों (पृ० ८२) में भी 'अचेल परीषह' ही दी गई है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'अचेल' शब्द के स्थान में 'नाग्न्य' शब्द को रखकर अचेल

परीषह की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' कही है। यद्यपि अचेल और नाग्न्य में कोई भेद नहीं है, प्रारम्भ में नाग्न्य के अर्थ में ही अचेल शब्द को रखा था और भ० महावीर ने अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया था[1], परन्तु 'अचेल' शब्द के स्थान में 'नाग्न्य' शब्दको रखना क्यों आवश्यक और इष्ट समझा गया ? और यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ है जो यहाँ खास ध्यान देने योग्य है और डेढ़ दो हजार वर्ष की स्थिति को जानने के लिये प्रेरित करता है।

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने 'अचेल परीषह' में प्रयुक्त 'अचेल' शब्द को 'सर्वथा वस्त्ररहितता'—'एक भी वस्त्र का न होना' के अर्थ में व्यवहृत किया था। भ० महावीर ने स्वयं भी वस्त्र नहीं रखा था और वे नग्न ही विचरे थे, इस बात को श्वेताम्बर परम्परा भी स्वीकार करती है। इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र की जो कल्पना की जाती है वह भी उनके लिये अनैच्छिक और अल्पकालिक (लगभग एक वर्ष कुछ महीने) स्वीकृत की गई है। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान् महावीर की परम्परा अचेलक्य धर्म को ही प्रोत्साहन देती थी और उसीका आचरण करती थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों साधुवर्ग में कालदोष के प्रभाव से शिथिलतायें और कमजोरियाँ पैदा होती गई। ये शिथिलतायें और कमजोरियाँ यहाँ तक बढ़ीं कि नग्न रहना बड़ा कठिन और लज्जाजनक प्रतीत होने लगा। जिन साधुओं ने पूर्ण निर्ग्रन्थता को पालन करने में अपने को असमर्थ पाया उन्होंने एक कौपीन का ग्रहण अनिवार्य और अपरिहार्य कर लिया। होते होते यह वस्त्र भी निर्ग्रन्थता में सम्मिलित हो गया और आगम तथा सूत्रों में प्रयुक्त 'अचेल' शब्द का अर्थ भी बदल दिया गया—'अनुदरा कन्या' की तरह 'अचेल' का अर्थ 'ईषद् चेल 'अचेल' अर्थात् 'अल्पचेल' कर लिया गया। परन्तु जो साधु भ० महावीर की शुद्ध निरपवादिक परम्परा के पक्षपाती बने रहे वे 'अचेलक' का अर्थ सदा चेलरहित ही करते आये। इसी परम्परा में कुछ ही समय बाद आचार्य उमास्वाति हुए उन्होंने देखा कि 'अचेल' शब्द तो भ्रष्ट और भ्रान्तिजनक हो गया है और उसकी दोनोंही तरफ खींचतान की जा रही है। अतः इस शब्द के स्थान में तदर्थक किसी दूसरे स्पष्ट शब्द का ही प्रयोग करना अब आवश्यक है, जिससे भ० महावीर की परम्परा पूर्णतः निरपवादरूप में ही सुरक्षित रहे और वर्तमान साधुवर्ग में कुछ सुधार हो। यह विचार कर उन्होंने 'अचेल' शब्द के स्थान में अत्यन्त स्पष्ट और निर्भ्रान्त 'नाग्न्य' शब्द का व्यवहार किया। हम देखते हैं कि आगम और सूत्रों में प्रयुक्त 'अचेल' के पर्यायवाची के रूप में 'नाग्न्य' शब्द सर्व प्रथम आ० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में ही मिलता है जो न केवल भगवान महावीर की निरपवादिक परम्परा का पोषक है बल्कि दिगम्बरत्व का सर्वथा समर्थक है। परन्तु

१ देखो, पं० कैलाशचन्द्र जी, सि० शा० रचित 'भगवान् महावीर का अचेलक्य धर्म' नामक ट्रैक्ट, जो जैनसंघ चौरासी मथुरा से प्रकट हुआ है।

हमें दुःख है कि कई शताब्दियों के बाद इस स्पष्ट 'नाग्न्य' शब्द की भी खींचतान की गई है और उसकी अचेल शब्द जैसी ही दशा की गई है। नवमी, दशमी शताब्दी के विद्वान् सिद्धसेन गणी[1] कहते हैं कि 'निरुपकरणता का नाम नाग्न्य परीषह नहीं है जैसा कि दिगम्बर और भौतादिमत वाले स्वीकार करते हैं। किन्तु आगमोदित नाग्न्य का ग्रहण इष्ट होना चाहिये। आगम में रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि तीन, चार, पाँच, नव, दस और बारह प्रकार की उपधि निर्दिष्ट है; आदि। हमें कहने दिया जाय कि जो अभी हाल में श्रीविजयलब्धि सूरीश्वर जी ने 'तत्त्वन्याय विभाकर' नामक स्वरचित ग्रन्थ प्रकट किया है उसमें अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' परीषह न रखकर अवस्त्र परीषह दी है और उसका अर्थ 'सदोषवस्त्रादिपरिहारेणाल्पमूल्याल्पवस्त्रादिभिर्वर्त्तनमवस्त्रपरीषहः' किया है तथा टीका में (पृ० १७४) 'एवञ्च सर्वथावस्त्रत्वशून्यतायामवस्त्रपरीषहत्वं निराकृतम्' कह कर 'सर्वथा वस्त्र-रहितता' अर्थ का निषेध एवं खण्डन किया है। आज 'अचेल' या 'अवस्त्र' अथवा 'नाग्न्य' का अर्थ अल्पचेल, अल्पवस्त्र, या अल्पमूल्य के वस्त्र कोई भी निष्पक्ष समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता। किन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति सबकुछ करा देती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रकृत में हमें यह कहना है कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थ में भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वाति ने उसके स्थान में नग्नता—सर्वथा वस्त्र रहितता अर्थ को स्पष्टतः ग्रहण करने के लिये 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग किया। इससे यह विदित हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा क्या है? और उसकी रचना किस परम्परा के श्रुत के आधार पर हुई है? अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकार नाग्न्य समर्थक परम्परा के हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र 'नाग्न्य' प्रतिपादक श्रुत के आधार पर रचा गया है, सचेल नहीं।

६. निर्युक्तिकार ने लौकान्तिक देवों के ९ भेद बतलाये हैं जो श्वेताम्बर आगम के अनुकूल है। निर्युक्तिकार की वह ९ भेदों को बतलानेवाली गाथा निम्न प्रकार है:—

सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा यि गद्दतोयाय।
तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य।

—आवश्यक निर्यु० गा० २१४।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार लौकान्तिक देवों के ८ ही भेद बतलाते हैं। यथा—

'सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।"—४-२५

---

[1] 'नाग्न्यपरीषहस्तु न निरुपकरणतैव दिगम्बरभौतादिवत्। किंतर्हि? प्रवचनोक्तविधानेन नाग्न्यम्। प्रवचने तु द्विप्रकारः कल्पः—जिनकल्पः स्थविरकल्पश्च।... . तत्र यः पाणिपात्र लब्धिसम्पन्नस्तस्योपधिरवश्यंतया रजोहरणं मुखवस्त्रिका च। कल्पग्रहणात् त्रिविधश्चतुर्विधः पंचविधो वा; प्रतिग्रहधारिणस्तु नवप्रकारोऽवश्यंतया, कल्पग्रहणात् दशविध एकादशविधो (द्वादशविधो) वा उपधि-रागमाभिहितः एवंविधं नाग्न्यमिष्टम्"—सटीक तत्त्वार्थाधिगम सू० पृ० २२९।

यद्यपि श्वेताम्बरसूत्रपाठ में ९ भेद गिनाये गये मिलते हैं पर स्वयं श्री पं० सुखलालजी आदि श्वेताम्बर विद्वान् सूत्रगत 'मरुतो' पाठको 'पीछे से प्रक्षिप्त हुआ' बतलाते हैं। दूसरे, जिस भाष्य को वे स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ मानते हैं उसमें भी आठही भेद निर्दिष्ट हैं 'नव नहीं'। इससे प्रकट है कि सूत्रकार की मान्यता ८ भेदों की है जो श्वेताम्बर श्रुत के अनुकूल नहीं है। क्योंकि श्वे० श्रुत में ९ भेद माने गये हैं।[2]

ये कुछ उदाहरण स्वरूप निर्युक्तिकार, भद्रबाहु और उमास्वाति के मध्य में मतभेद सूचक बातें हैं जो एक दूसरे की भिन्न परम्परा की निश्शंक हैं। और स्पष्ट बतला रही हैं कि जहाँ भद्रबाहु सचेलश्रुत—श्वेताम्बर अनुसार चलते हुए मिलते हैं वहाँ आचार्य उमास्वाति उनसे भिन्न मत रखते हुए पाए जाते हैं। ऐसी हालत में यह कहना कि वे श्वेताम्बर परम्परा में हुए हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र सचेलश्रुत के आधार पर बना है, बहुत ही स्खलित और भ्रान्त है। यदि तत्त्वार्थसूत्र के निष्पन्न विद्वान् गहरा अन्तःपरीक्षण करें तो वे इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि वह दिगम्बर श्रुतके आधारपर रचा गया है और उसके रचयिता दिगम्बर परम्परा के थे।

---

१ "एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्।" तत्त्वार्थभाष्य ४—२६।

२ देखो, ज्ञातृधर्मकथा, भगवती और स्थानांगादि।

प्रक्रियावतार, उणादिसूत्रवृत्ति, उपासकसंस्कार और अर्थव्यञ्जनपर्यायनिरूपण

जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़ और हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों के असंख्य ग्रन्थों की रचना कर जैन-साहित्य के भाण्डार को धनी किया है; पर जैन समाज की असावधानता के कारण प्राचीन आचार्यों की इस थाति की रक्षा जैसी होना चाहिये थी, नहीं हो सकी है। अब तक अनेक ग्रन्थरत्न दीमक और कीड़ों के पेट में चले गये हैं। यदि कटु सत्य न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि सहस्रों ग्रन्थरत्न ग्रन्थागारों के अधिकारियों की संकीर्णता के कारण नष्ट हो गये हैं, क्योंकि वे इस डर के मारे कि ये ग्रन्थ कहीं दूसरों को दिखलाई न पड़ जायँ इसलिये धूप और प्रकाश भी नहीं दिखलाते थे। इस बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक उदारता के जमाने में भी कुछ लोग बाहर ग्रन्थ भेजना या तद्विषय के जानकार विद्वानों को देना अनुचित समझते हैं। इसीलिये जैनसाहित्य से जैनेतर विद्वान् अभी भी प्रायः अपरिचित हैं। यों तो इस समय समाज के सौभाग्य से अनेक प्रकाशक संस्थाएँ जैन साहित्य को प्रकाश में लाने के लिये बद्धकटि हैं तथा कई संस्थाओं से अन्वेषण का भी कार्य हो रहा है; जिससे अनेक ग्रन्थरत्न प्रकाश में आ रहे हैं। पर व्यवस्थित ढंग से संयोगात्मक कार्य न करने के कारण पूर्ण सफलता नहीं मिल रही है। अस्तु,

गवर्नमेन्ट के विभिन्न ग्रन्थागारों से एवं अन्य व्यक्तिगत पुस्तकालयों से जो सूचीपत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित जैन ग्रन्थों के नाम अंकित हैं। यदि हमारी प्रकाशक संस्थाएँ उन ग्रन्थों का अन्वेषण कर उनके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर कार्य करें तो उनका कार्य बहुत हल्का हो सकता है। यहाँ "भास्कर" के पाठकों की जानकारी के लिये उपर्युक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा—

A Descriptive catlogue of the sanskrit Manuscripts in the government oriental manuscripts library madras Vol. III, में कई जैन ग्रन्थों का उल्लेख है, इस सूची मे केवल कातन्त्र व्याकरण पर ही कई जैन वृत्तियों का निरूपण किया गया है। जैन व्याकरण के 'प्रक्रियावतार' और 'उणादिसूत्रवृत्ति' इन दो ग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है।

प्रक्रियावतार के सूत्रों के संकलनकर्त्ता और वृत्तिकार आचाय नेमिचन्द्र बताये गये हैं। इस ग्रन्थ में ६ प्रकरण है—(१) सन्धि, (२) नामनिर्णय, (३) सवर्त्त, (४) प्राद्विधि, (५) मिज-

विधि और (६) छद्विधि। इस ग्रन्थ में २०६ ताडपत्र हैं, और प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियाँ हैं, पत्रों की साइज १४३"×२३" है, अवस्था जीर्ण और ग्रन्थ पूर्ण है। सम्पादक महोदय ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि—

"A grammatical treatise of the Jainendra school The sutras are herein arranged synthetically and explained in 6 chapters. The author is probably Nemichandra The contents are (1) Sandhi, (2) Nāmanirṇaya (3) Savṛtta, (4) Prādvidhi, (5) Mṛvidhi, and (6) Kṛd vidhi

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

सर्वज्ञाय नमस्तस्मै वीतक्लेशाय शान्तये।
येन भव्यात्मनश्चेतस्तमस्तोमचिकित्सित॥

अथ प्रत्याहारक्रमोऽनुगम्यते। अइउण्। ऋक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरलण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषस ≍क≍प र्। हल्॥इति प्रत्याहारसूत्राणि॥

उक्तं च—

"स्युस्त्रयोदशसूत्राणि तानि तद्वानुबन्धका।
षट्चत्वारिंशतो वर्णा प्रत्याहारस्य सङ्ग्रहे॥इति॥
सर्वो वर्णो ऽलित्युच्यते। तत्कथम्?

सात्मेतादि॥१॥ इता सहोच्चार्यमाणो वर्णसमुदायो वादिभूतस्तन्मध्यपतितानां सञ्ज्ञो (ज्ञा) भवत्यात्मना सह।

ग्रन्थ का अन्तिम भाग—

पादाभ्यां ह्रियते इति पादहारकः। गलेन चुप्यते गलचोपकः, अत्र कर्मणिघुः। परोहुकः। मनसि हृतोऽपि। मनोहरतीति मनोहरी। मनोहर्यमनयोरतिवनस्य च॥

पुष्पिकावाक्य—

इति प्रक्रियावतारे कृद्विधिष्षष्ठस्समाप्तः।

× × × ×

किं वाणी चतुराननः किमथवा वाचस्पतिः किन्त्वसौ,
विधाता निमत्तसहस्रवदनस्माक्षादनन्तः किमु।
इथ संसदि साधवः समुदितास्मसे(शे)रते सादरं,
विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्रः भवति व्याख्यानमातन्वति॥

अरिकुठारावासविद्यानन्दोपाध्यायप्रपौत्रदेवरसमिपजा लिखितमिदं भवति ।

उपर्युक्त अवतरणों से पता चलता है कि यह वृत्ति पूज्यपाद विरचित जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों पर ही लिखी गयी है, क्योंकि प्रत्याहार सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के ही हैं। इस सूची से यह भी स्पष्ट है कि इस वृत्ति में 'स्वस्याभाव्योत्परोऽणुदित्' 'स्वस्थानक्रियं स्वम्' 'आकालोऽच्प्रदीपः' इत्यादि सूत्रों के ऊपर विशेष विवरण लिखे गये हैं तथा ग्रन्थान्तरों के उद्धरण भी विषय को स्पष्ट करने के लिये दिये गये प्रतीत होते हैं। व्याकरण सम्बन्धी शंका समाधान भी दिये गये हैं। शब्दों की व्युत्पत्ति कृदन्त प्रकरण में विशेषरूप से समझाई गई है। इस वृत्ति के रचयिता प्रस्तुत नेमिचन्द्राचार्य प्रसिद्ध सिद्धान्त-चक्रवर्ती हैं या अन्य ? इसका निर्णय गुरुपरम्परा देखे विना नहीं किया जा सकता है, अतः मूल प्रति के अभाव में रचयिता के विषय में कुछ कहना भ्रान्ति युक्त होगा।

उणादिसूत्रवृत्ति

सूचीपत्र में इस नाम की दो प्रतियाँ भिन्न-भिन्न जैनाचार्यों की बताई गई हैं। एक प्रति के रचयिता श्वेताम्बर आचार्य दुर्गसिंह हैं और दूसरी के कर्त्ता का पता नहीं है, पर अनुमान यही है कि इसके कर्त्ता दिगम्बर जैनाचार्य हैं। पहली प्रति में ४६ ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र ९ पंक्तियाँ हैं और साईज १५×$\frac{१}{१}\frac{१}{२}$ इञ्च है, इसकी लिपि कन्नड़ और भाषा संस्कृत है। इसका प्रारम्भिक भाग निम्न है—

नमस्कृत्य गिरं भूरिशब्दसन्तानकारणम् ।
उणादयोऽभिधास्यन्ते बालव्युत्पत्तिहेतवे ॥

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूदसनिजनिचरिभ्यउण् । एभ्यो धातुभ्य उण् प्रत्ययो भवति। उणादयो भूतेऽपि । भूते काले अपि शब्दाद्वर्तमाने भविष्यति च ।

अन्तिम भाग—

शब्दानामानन्त्याद्व्युत्पत्तिर्दृ(नैवदृ)श्यते येषाम् ॥
तेषां विज्ञैः कार्या मान्यो(न्यै)र्धातोस्ततः प्रत्ययान्ताम् ॥

सन्धिवाक्य—

उणादि समाप्तः ! श्रीशान्तिनाथाय नमः । श्रीमदकलङ्कमुनये नमः । श्रीचन्द्रप्रभमुनये नमः ।

कालयुक्तिसमे मासे ज्येष्ठे तत्प्रतिपत्तिथौ ।
उणादिवृत्तिर्वित्तेयमादप्पेन विलिख्यते ॥

द्वितीय प्रति—

इस उणादिसूत्रवृत्ति के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य हैं। इसमें ९७ ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र १० पंक्तियाँ और २१½"×२¼" साइज है। इसकी भाषा संस्कृत और लिपि कन्नड है। इसकी अवस्था अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण बताई गई है।

प्रारम्भिक भाग—

प्रणम्य जिनमास्वन्तमज्ञानध्वान्तभेदिनम्।
उणादिलक्षणं वक्ष्ये रुढिनैगमसिद्धये॥
सम्प्रतीत्यधिकृत्योच्यते

उणादयो बहुलमिति। के पुनरुणादय इत्यत इदमारभ्यते—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्। शू इत्येतेभ्यो दु(धातु)भ्य उण् इत्यय (प्र) त्यो (त्ययो) भवति। करोतीति कारु—शिल्पी। ब्राह्मणादीनां शुश्रूषां करोतीति कारु, तन्तुवायरजककुम्भकारनापिता कारवः—शुश्रूषाकृत्कुत्साद्योतनाय कुत्साज्ञानयोरिति के सति कारुकाः इति भवन्ति। अथवा उणादय (सम्प्रदानापादा) नाभ्यामन्यत्र कारके इति वचनात् कर्मण्यपि भवन्ति। शिल्पिव्यापारे ब्राह्मणादिभिः क्रियते नियुज्यते इति कारु। वाति गन्धयतीति वायु—गन्धवह। पीयते तेनेति पायु—उपस्थ, अपान च। जयत्यनेन व्याधीनिति जायु—औषधम्। अथवा जयति श्लेष्माणमिति जायु—पित्तम्।

अन्तिम भाग—

लोकशास्त्राविरुद्धानां शब्दानां सिद्धिरिष्यते।
॥ सम्मतिपिमि ॥
संज्ञास्विष्टा प्रकृतय ताभ्यश्चत्वारस्तथा (इच प्रत्यया) परे।
कार्येण विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥
सम्प्रदानमपादानकरणाधिकरणे उभे।
भाव कर्म च कर्ता च सप्तधा विद्धि कारकम्॥

सन्धिवाक्य—

इत्युणादिषु पञ्चम पादस्समाप्त।
सर्वन... ..

× × × ×

(मो) क्षमार्गजाद्दर्शितपन्था।
यातरामजातस्वसुशान्त पूर्वमत्र मुनि कीर्तिमहान्त॥

शिष्यस्तस्य महाकुले प्रविमले रत्नत्रये स्थापितः ।
श्रान्तो व्याकरणादिशास्त्र [।]......ले तत्रापि संलग्नवान् ।
सोऽमो (भू) त्पण्डितनिर्मलो गुणनिधिः.........

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह वृत्ति पर्याप्त विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। इसमें शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ सहित बहुत सुन्दर ढंग से बतलाई गई है। इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि यह दिगम्बर जैनाचार्य की कृति है।

उपासकसंस्कार

इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दी हैं। इसमें ८ ताड़पत्र हैं, प्रत्येक पत्र में ७ पंक्तियाँ हैं, कन्नड लिपि और भाषा संस्कृत है। पत्रों की साइज १०½"×१¼" है, प्रति पूर्ण और जीर्ण-शीर्ण है। इसमें मोक्षमार्ग पर चलनेवालों के कर्त्तव्य का निरूपण किया गया है। सम्पादक ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि—

On the duties of those who walk in the path of righteousness as propounded in jainism : by padmanandin.

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

आद्योजिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदनो(न्यो)न्य सम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥
सम्यग्दृष्ट्याथ चारित्रत्रितयं धर्म उच्चते ।
मुक्तिपन्थास्स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥
रत्नत्रयातते मार्गे सञ्चरन्ति न ये जनाः ।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः ॥
सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स धर्मो द्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिता ॥
सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना ।
तेनैतेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥

अन्तिम भाग—

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु ।
द्वयोसम्मेलने मोक्षः तस्माद्द्वितय........ ॥

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्य पृथग्भूत चिदात्मकम्।
आत्मान भावयेन्नित्य नित्यानन्दपदप्रदम्॥
इत्युपासकसंस्कार कृत श्रीपद्मनन्दिना।
येषामेतदनुष्ठान तेषा धर्मोऽतिनिर्मल ॥

सन्धिवाक्य—

इत्युपासकसंस्कारसमाप्त ॥

"दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" पुस्तक में श्री प० नाथूरामजी प्रेमी ने पाँच पद्मनन्दि नाम के आचार्यों का उल्लेख किया है—जिनमें प्रथम पद्मनन्दि कुडलपुर निवासी 'चलिकासिद्धान्तव्याख्यावृत्ति' के रचयिता बताये हैं, दूसरे पद्मनन्दि नन्दिसघी पद्म-नन्दिपचविंशतिका, चरणसार (प्राकृत), धर्मरसायन (प्राकृत) और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (प्राकृत) के रचयिता हैं, तीसरे पद्मनन्दि (भट्टारक)—(वि० सं० १३६७) यत्याचार, आराधना सग्रह परमात्मप्रकाश टीका, निघण्टु (वैद्यक), श्रावकाचार, कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान, अनन्तकथा, और रत्नत्रयकथा के रचयिता हैं। चौथे पद्मनन्दि करणेट ग्रामवासी 'सुगन्धदशाम्युद्यापन के रचयिता हैं और पाँचवें पद्मनन्दि उपदेशामृत के रचयिता बताये गये हैं। प्रस्तुत पद्मनन्दि कौन से हैं यह नहीं कहा जा सकता है, पर अनुमान यह है कि प्रस्तुत उपासक संस्कार ही तो उपदेशामृत नहीं है ? क्योंकि विषय दोनों का लगभग एक सा ही है।

अर्थव्यञ्जनपर्याय निरूपण

इस प्रस्तुत ग्रन्थ में ६ ताड़पत्र बताए गए हैं, प्रत्येक पत्र में ८ पंक्तियाँ हैं। साइज ११¾×१¾ इञ्च है, लिपि कन्नड और भाषा संस्कृत है। ग्रन्थ पूर्ण और अवस्था जीर्ण शीर्ण है। ग्रन्थ के उद्धरणों से पता चलता है कि इसमें अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है, सूचीपत्र के सम्पादक ने लिखा है कि—"A work on the principal of jain philosophy' इससे अधिक इस ग्रन्थ के बारे में प्रकाश नहीं डाला गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मन ।
सद्द्रव्य चिदचित्त्रिकालविषय स्वैस्स्वैरभीक्ष्ण गुणै ॥

सार्थव्यञ्जनपर्ययैः स मम यज्जानाति बोधस्ततम् ।
तत्सन्यस्त्वमशेषकर्म्मभिदुरं सिद्धापरं नौमि वः ॥१॥
स्थूलोव्यञ्जनपर्यायो वागम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥२॥
धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचरः ।
व्यञ्जनार्थेन सम्बन्धात् द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥३॥

× × × ×

अतः तत्परिणमनं प्रतिक्षणनवीभाव इति कुतो नोक्तमाशाधरैरिति नाशङ्कनीयम्ः तावन्मात्र-वचने केवलज्ञानस्य गृहीतग्राहित्वानतिवृत्तेरप्रामाण्यप्रसङ्गस्यानिवारणात् । तथाहि– केवलज्ञानं प्रागेव सर्वद्रव्यपर्यायान् गृह्णाति । सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्येति सूत्रकारवचनात् ।

अन्तिम भाग—

ननु सर्वेषामर्थानां अर्थपर्यायैश्च परिणमनं प्रतिक्षणं नवीभावः; तथा च तस्य अपूर्वार्थ-व्यवसायकत्वाभावादप्रामाण्यं स्यात् । अतः प्रतिक्षणनवीभावोऽन्यथा व्याख्यात आशाधरैरिति ज्ञेयम् ।

× × × ×

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकरं मतं दर्शनं,
साकारश्चविशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
तेनेऽते क्रमवर्त्तिनी सरजसां प्रादेशिके सवतः,
स्फूर्ज [य] न्ति (न्ते) युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः ॥

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा
३०-१२-४५

प्रो० एच. डी. वेलंकर एम. ए. का महत्वपूर्ण कार्य

हर कोई, जो जैन साहित्य से परिचित है, जानता है कि जैन साहित्य अपार है—अनेकानेक शास्त्रभडारों में वह बिखरा हुआ पड़ा है। समाज के सामने यह प्रश्न हल करने के लिये शेष है कि भडारों में कौन रत्न छुपे पड़े हैं ? इसके अतिरिक्त जैन साहित्य के जो ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये हैं, उनका परिचायक ग्रथ भी तो कोई नहीं है। हम यह नहीं बता सकते कि हमारे कौन कौन ग्रथ रत्न उपलब्ध हैं। इस प्रकार की एक परिचयात्मक सूची तैयार करने का उद्योग पहले कई दफे हुआ। आरा के सिद्धात भवन के लिए स्व० श्री देवेन्द्रकुमारजी ने भी यह उद्योग किया था और अब सरसावा के वीर सेवामदिर द्वारा भी इस दिशा में कुछ उद्योग हो रहा है। परन्तु इन उद्योगों का कोई परिणाम अभी प्रकाश में नहीं आया है—उसके लिए समय अपेक्षित है। किन्तु जैन साहित्य के परिचयात्मक इस महत्वपूर्ण कार्य को एक अजैन विद्वान मौनवृत्ति से गत बीस वर्ष से कर रहे थे। जो कार्य एक महती सस्था के वश का था, उन्होंने उसको अकेले अपने सुदृढ़ कधों पर उठाया। एक अजैन विद्वान् के लिये यह कार्य कितना कठिन है, यह भुक्तभोगी जान सकता है। उस पर वह मराठा विद्वान अपने स्वास्थ्य से भी लाचार है—दमा उनको सताये रहता है। फिर भी उन्होंने अपने अमूल्य समय को सस्कृत और प्राकृत भाषा के भारतीय साहित्य के उद्धार में लगाया है। अनवरत बीस वर्ष के परिश्रम स्वरूप उन्होंने बड़ी साईज के पृष्ठों में "जिनरत्नकोष" नामक जैन साहित्यग्रथों का परिचायक अमूल्य ग्रथ जनता को भेंट किया है। जैन साहित्य के लिये वह अनूठी चीज़ है यद्यपि अपने विषय का वह पूर्ण ग्रथ नहीं है, परन्तु फिरभी वह अपने प्रकार का पहला ग्रथ है। उसे प्रो० एच० डी० वेलङ्कर ने सकलित किया है। उसकी समालोचना अन्यत्र प्रगट है, जिससे उसका विशेष परिचय प्राप्त होगा। परतु यहाँ तो हमें उसके रचयिता प्रो० वेलङ्कर का सक्षिप्त परिचय कराना अभीष्ट है। आप का जन्म एक मराठा कुल में ता० १८ अक्तूबर १८९३ को हुआ था। आप की प्रारभिक शिक्षा जिला रत्नगिरि के देवरख ग्राम में हुई थी। बम्बई के मराठा हाई स्कूल से आपने सन् १९०९ में मैट्रिक पास किया और सन् १९११ में विलसन कॉलिज में आप उच्च शिक्षा लेने लगे। सन् १९१४ में आप प्रथम श्रेणी के ग्रेजुएट हुए और भाउदाजी पुरस्कार प्राप्त किया। सन् १९१८ में आप एम० ए० हुए। उपरात आप बम्बई विश्वविद्यालय में सस्कृत भाषा के अध्यापक नियुक्त हुए और अब सस्कृत विभाग के प्रधान हैं। आप वैदिक और प्राकृत साहित्य के निष्णात विद्वान् हैं। इन विषयों पर आप ने कई पुस्तकों का सम्पादन किया है और कई गवेषणा-

त्मक लेख लिखे हैं। अपभ्रंश प्राकृत के छंदशास्त्र पर आपके मौलिक लेख 'बम्बई यूनीवर्सिटी के जर्नल' में प्रकट हुए हैं। उसी जर्नल में एवं 'बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (१९३६) में महाकवि स्वयंभू के 'स्वयंभूछन्दम्' नामक ग्रन्थ का आपने सम्पादन किया है। सन् १९४३-४४ में आचार्य हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' को भी आप उसी जर्नल में सम्पादित कर चुके है। 'वृत्तजाति समुच्चय', 'गाथालक्षण', 'चण्डकोष' 'कविदर्पण' और ऋग्वेद मंडल की इन्द्र विषयक ऋचाओं पर आपने ज्ञानवर्धक लेख लिखे हैं और उनका परिचय कराया है। अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की सूचियां भी आपने तैयार की हैं। इस प्रकार अपना शेष समय वह भारतीय साहित्योद्धार सदृश महान् कार्य में बिताते हैं। 'जिनरत्नकोष' के कारण जैनसाहित्य-जगत में उनका नाम अमर है। निस्सन्देह व्यक्तिगत रूप में उनका यह कार्य अपूर्व और श्लाघनीय है। वह चिरायु हो साहित्यसेवा में निमग्न रहें, यही कामना है।

—कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

ता० १५ १० ४५ को श्रीजैन-सिद्धान्त भवन, आरा की प्रबन्धकारिणी की बैठक एक लम्बे अर्से के बाद श्रीमान् बाबू बच्चूलालजी जैन रईस की अध्यक्षता में हुई। अब तक लगभग १२ वर्षों से श्रीमान् बाबू निर्मलकुमारजी जैन रईस मंत्री का कार्य सुचारुरूप से करते चले आ रहे थे, पर अब आपने कार्याधिकता का अनुभव करते हुए निम्न वक्तव्य देकर नया चुनाव करने का प्रस्ताव किया।

जिस समय मैंने इस गुरुतर कार्यभार को अपने हाथों में लिया था, उस समय इस भवन का भाण्डार श्रीशान्तिनाथ मन्दिर के कमरों में था। मैंने अनुभव किया कि बढ़ते हुए इस भाण्डार का निर्वाह अब इस स्थान में नहीं हो सकेगा, अतः इसके लिये एक विशाल इमारत की आवश्यकता है। फलतः सन् १९२६ में लगभग २५ हजार रुपये की लागत से वर्तमान विशाल इमारत बनाई गई। इन वर्षों में प० के० भुजबली शास्त्री पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर योग्यता पूर्वक काम करते रहे।

इस 'भवन' के दो प्रधान विभाग हैं—प्रथम में ग्रंथ प्रकाशन का कार्य होता है और द्वितीय में ग्रन्थसंग्रह का। प्रथम विभाग से पुरातत्त्व विषयक जैन सिद्धान्त भास्कर नामक पत्रिका लगभग १२ वर्षों से निकल रही है तथा मुनिसुव्रतकाव्य सटीक, ज्ञान प्रदीपिका एवं सामुद्रिक शास्त्र, वैद्यसार संग्रह सटीक, तिलोयपण्णत्ति प्रथमभाग, प्रतिमालेखसंग्रह, प्रशस्तिसंग्रह और जैन लिट्रेचर इन शामिल ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त सन् १९१९ में 'भवन के संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों की सूची तथा सन् १९३३ में 'भवन' के अंग्रेजी ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की गई है। वर्तमान में कागज की कमी के कारण सिर्फ "जैन सिद्धान्त-भास्कर" का ही प्रकाशन हो रहा है, अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य स्थगित प्राय है।

द्वितीय विभाग के तीन उपविभाग हैं—प्रथम में हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों का संग्रह, द्वितीय में उपर्युक्त भाषाओं के मुद्रित ग्रन्थों का संग्रह, और तृतीय में पुरातत्त्व विषयक सिक्के, स्टाम्प, चित्र, मैचलेबुल, कार्टून आदि अन्य प्रकार की सामग्री का संग्रह किया जा रहा है। इन तीनों उपविभागों के सम्बन्ध में कहने के पूर्व इतना और बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि इन वर्षों में ताड़पत्रीय ग्रन्थों की एक व्यवस्थित तालिका भी तैयार की गयी है।

वर्तमान में प्रथम उपविभाग (हस्त लि० ग्र०) के संग्रह का विवरण निम्न प्रकार है—

दर्शन—

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
९५	३७—इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं जिनमे प्रत्येक में आठ-आठ, दस-दस ग्रंथ हैं।

धर्म, आचार और नीति

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
९८	६५—इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनमें प्रत्येक में एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

पुराण एवं पौराणिक-कथाएँ

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
६३	६५—इनमें कुछ ऐसे गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनमें एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

स्तोत्र

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
७९—इनमें २६ गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनकी कुल ग्रन्थ संख्या १५० के लगभग है।	५०—इनमें अधिकांश ऐसे गुटके हैं, जिनमे एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

पूजापाठ एवं आराधना आदि

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१२२—इनमें एक से अधिक पूजावाले २४ गुटके भी सम्मिलित हैं।	५६—इनमें कुछ एक से अधिक पूजावाले गुटके हैं।

ज्योतिष

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१६—इनमें अक्षर शकुनकेवली और पाशकेवली जैसे ग्रंथों की ही अधिकता है।	२

वैद्यक

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१५	×

यंत्र-मंत्र-तंत्रादि संग्रह

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१८	×

व्याकरण

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
११	×

साहित्य (काव्य, कोष, अलंकार आदि)

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
२७	३६

गायन, खण्डन-मण्डन आदि विविध विषय

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
८७—इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं।	४५—इनमें भी कुछ गुटके सम्मिलित हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनेतर दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, स्तोत्र एवं पूजापाठ आदि विभिन्न विषयों के २१०२ ग्रन्थ हैं तथा ताडपत्र पर कन्नड़ लिपि में लिखे गये संस्कृत प्राकृत और कन्नड भाषा के विभिन्न विषयों के ग्रन्थों की संख्या १८७९ है।

द्वितीय उपविभाग (मुद्रित ग्रन्थों के संग्रह) का विवरण—इस विभाग में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के मुद्रित ग्रन्थ तथा अंग्रेजी भाषा के मुद्रित ग्रंथ सम्मिलित हैं। विषय क्रमानुसार विगत निम्न प्रकार है—

जैन दर्शन	६६१
जैनाचार और धर्मशास्त्र	५५४
वैदिक धर्मशास्त्र और आचार	४३
वैदिक दर्शन	९४
बौद्धदर्शन	२६
विविध आचार और धर्मशास्त्र ..	११६
विविध दर्शन	२२
भूगोल .	३३

जीवनी	...	६५
ज्योतिष	...	९२
स्वास्थ्य एवं चिकित्सा	....	९०
गायन	...	११५
खण्डन-मण्डन	.	१०
विवरणपत्रिका	...	२२
सूचीपत्र	...	१५
मंत्रशास्त्र	...	१३
बंगला साहित्य	...	११
गणित	...	९
अभिभाषण	...	७२
कन्नड़ साहित्य	...	३७
नीति	...	१६
अभिधान	...	८४
पौराणिक कथाएँ	..	४१
शिक्षा	...	१५०
कला		२३
राजनीति		२५
सामाजिक	...	१८३
महिलोपयोगी	...	५५
भाषाविज्ञान एवं व्याकरण	...	१११
पूजापाठ	..	२०२
संस्कृत साहित्य	..	१८३
पुराण	...	२४१
हिन्दी साहित्य	...	२२३
पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें	...	४६३
यात्रा	...	१०
विज्ञान	...	३०
गुजराती साहित्य	...	१७
स्तोत्र	...	१३२

इतिहास	२७२
फुटकर	४२३

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के Reference, Philosophy, Religion, Soceology, Philology, Naturalscience, Usefularts Fine arts, Leterature, History, Medicine आदि विषयों की कुल पुस्तकें २६४५ हैं।

• तृतीय उपविभाग का विवरण

इस उपविभाग में सिक्के, स्टाम्प आदि विभिन्न प्रकार की पुरातत्त्व सामग्री संग्रहीत है। सिक्कों में २०५ ताम्बे के सिक्के, ७४ चांदी के सिक्के और कुछ नोट हे। इन सिक्कों में कुछ सिक्के कनिष्क के समय के भी हैं। आठ दस सिक्के हिन्दूकाल के और पाँच सात मुस्लिम समय के महत्वपूर्ण हैं।

स्टाम्प संग्रह की तीन चार पुस्तिकाएँ हैं, जिनमें चीन, जापान, स्याम, बर्मा, इङ्गलैण्ड, हालैण्ड, फ्रान्स, जर्मन, बर्लिन, आदि विभिन्न स्थानों के विभिन्न प्रकार के स्टाम्पों का संग्रह किया गया है। मेचलेबुल संग्रह में इधर पच्चीस तीस वर्षों से प्राप्त प्राय सभी प्रकार की दियासलाइयों के लेबुलों का संग्रह है। कार्टून संग्रह में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित संकेतात्मक भाषा की अभिव्यक्ति करने वाले अनेक कार्टूनों का संग्रह किया गया है। चित्र संग्रह में भारत के प्राय सभी प्रसिद्ध स्थानों के जैन मन्दिरों, मूर्त्तियों एवं तीर्थक्षेत्रों के चित्रों के अतिरिक्त 'अजन्ता' के चित्रों का भी संग्रह है। इन संग्रहों के अतिरिक्त चावल, सरसों, तिल आदि विभिन्न वस्तुओं पर लिखाये गये लेखों का संग्रह है।

भवन के आय व्यय का ब्यौरा बराबर लिखा जाता रहा है, जो शीघ्रही जाँच कर प्रकाशित करा दिया जायगा।

आपने प्रबन्धकारिणी के पदाधिकारी एवं सदस्यों की निम्न नामावली पेश की जो सर्वसम्मति से स्वीकार की गई।

संरक्षक—श्री० भट्टारक पण्डिताचार्य चारुकीर्त्तिजी महाराज, श्रवणबेलगुल।
सभापति—श्री० बा० बच्चूलालजी जैन रईस, आरा।
मन्त्री—श्री० बा० चक्रेश्वरकुमारजी जैन रईस देवाश्रम आरा।
कोषाध्यक्ष—श्री० बा० सुबोधकुमारजी जैन रईस „ „
पुस्तकालयाध्यक्ष एवं उपमन्त्री—पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिषतीर्थ, साहित्यरत्न आरा
सदस्य—श्री० बा० बलदेवदासजी सरावगी, कलकत्ता।
„ श्री० बा० छोटेलालजी सरावगी, „
„ श्री० बा० सुपार्श्वदासजी गुप्ता एम० ए० आरा।

सदस्य—श्री० रायसाहब बा० चतुरकुमारजी जैन बी० ए०, आरा।
,, श्री० बा० देवेन्द्रकिशोरजी जैन जमीन्दार, आरा।
,, श्री० बा० पन्नाचन्दजी जैन बी० ए०, एल० एल० बी०, आरा।

आगामी वर्ष के लिये निम्न बजट पास हुआ—

आमदनी		खर्च	
१५००)	गाँव की आमदनी	९६०)	कर्मचारियों का वेतन।
३५०)	'भास्कर' की आमदनी	२००)	बिजलीबत्ती
९५०)	फुटकर आमदनी	१०००)	'भास्कर' की छपाई।
		५००)	पुस्तकों के लिये
		१४०)	फुटकर जिल्द आदि की मरम्मत के लिये
२८००)		२८००)	

चक्रेश्वरकुमार जैन,
मंत्री—'जैन-सिद्धान्त-भवन'
आरा

समालोचना

षट्खण्डागम धवला-टीका समन्वित (क्षुद्रकबन्ध) ७ वीं जिल्द—मूल सूत्रकार श्री भूतबलि-पुष्पदन्त, धवलाटीकाकार श्रीवीरसेनाचार्य, सम्पादक डा० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुर, प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन-साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती (बरार), पृष्ठसंख्या २+८+१८+५९४+५८ और मूल्य दस रुपये।

इस खण्ड में जीवों की प्ररूपणा (१) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, (२) एक जीव की अपेक्षा काल, (३) एक जीव की अपेक्षा अन्तर, (४) नाना जीवों की अपेक्षा भंग-विचय, (५) द्रव्य प्रमाणानुगम (६) क्षेत्रानुगम, (७) स्पर्शानुगम (८) नाना जीवों की अपेक्षा काल, (९) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, (१०) भागाभागानुगम और (११) अल्पबहुत्वानुगम इन ग्यारह अनुयोगों द्वारा मार्गणास्थानों में की गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रोफेसर सा० ने भूमिका में 'जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा' के ९३ वें सूत्र में संयत पद अपेक्षित है, इसे सिद्ध किया है। आपने भूमिका में बताया है कि मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति में 'संजद' शब्द है तथा ग्रंथ के प्रकरणार्थ को स्पष्ट करने के लिये भी संजद शब्द का होना परमावश्यक प्रतीत होता है। आगे प्रस्तावना में ही आप ने उपर्युक्त ११ अनुयोगों के विषय का संक्षिप्त परिचय दिया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में नामबन्धक, स्थापनाबन्धक द्रव्यबन्धक और भावबन्धक इन चारों बन्धकों के लक्षण भेद प्रभेद सहित बतलाये हैं। इस बन्धक-सत्त्वप्ररूपणा में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ तक मन, वचन एवं काय की क्रिया विद्यमान है, वहाँतक सब जीव बन्धक हैं, केवल अयोगी गुणस्थानवाले तथा सिद्ध अबन्धक हैं। द्वितीय प्रकरण अर्थात् एक जीव की अपेक्षा स्वामित्ववाले अनुयोग द्वार में बताया गया है कि मार्गणाओं सम्बन्धी गुण एवं पर्याय जीव के कौन से भावों से प्रगट होते हैं। इसके अनन्तर नरक गति में इक्कीस, पच्चीस, सत्ताईस, अट्ठाईस और उन्तीस प्रकृतियोंवाले पाँच उदय स्थानों का, तिर्यंच गति में इक्कीस चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस, अट्ठाईस, उन्तीस, तीस और इकतीस प्रकृति वाले नौ उदयस्थानों का, मनुष्य गति में बीस, इक्कीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस, अट्ठाईस, उन्तीस, तीस इकतीस, नौ और आठ प्रकृतिवाले ग्यारह उदयस्थानों का एवं देवगति में इक्कीस, पच्चीस, सत्ताईस, अट्ठाईस और उन्तीस प्रकृतिवाले पाँच उदयस्थानों का भंग सहित विस्तार से निरूपण किया है। इस प्रकरण में गोम्मटसार कर्मकाण्ड से कई स्थलों में विशेषता है।

द्वितीय अनुयोगद्वार—एक जीव की अपेक्षाकाल में चौदह मार्गणाओं में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का प्रतिपादन किया गया है। नरकगति और देवगति में आयु की हीनाधिकता निम्नकरण सूत्र से निकाली है—

मुह-भूमीए विसेसो उच्छ्यमजिदो दु जो हवे वड्ढी।
वड्ढी इच्छागुणिदा मुहसहिया होई वड्ढिफलम् ॥

अर्थात्—मुख और भूमि के अन्तर में उत्सेध से भाग देने पर जो वृद्धि का प्रमाण हो उसे अभीष्ट से गुणा कर मुख में जोड़ने पर वृद्धि का फल आता है। इस प्रकार आचार्य ने विस्तार पूर्वक एक जीव की अपेक्षा से आयु-प्रमाण निकाला है।

तृतीय अनुयोगद्वार में एक जीव का चौदह मार्गणाओं के प्रत्येक अवान्तरभेद से विरह-काल बताया गया है। चौथे में आठ सान्तर मार्गणाओं का विस्तार से कथन किया गया है। पाँचवें में मार्गणाओं में जीवस्थान के द्रव्यप्रमाण का निरूपण किया है। छठवें में चौदह मार्गणानुसार सामान्यलोक, अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, तिर्यग्लोक और मनुष्यलोक, इन पाँचों के आश्रय स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, सप्तसमुद्घात और उपपाद की अपेक्षा वर्तमान निवास की प्ररूपणा की गई है। स्पर्शानुगम में चौदहमार्गणाओं की अपेक्षा से उपर्युक्त पाँचों लोकों के स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद पदों से वर्तमान और अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्र का कथन किया है। नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम नामक अनुयोग द्वार में मार्गणानुसार कालप्ररूपणा का कथन किया गया है। इस अधिकार में आहारक काययोग के उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त्त की सिद्धि करते हुए लिखा है कि 'एत्था आहारकायजोगीणं दुचरिमसमओ जाव आहारकायजोगप्पवेसस्स अन्तरं करिय पुणो उवरिमसमए अण्णे जीवे पवेसियव्वा। एवं संखेज्जवारसलागासु उप्पण्णासु तदो णियमा अन्तरं होदि। एवं संखेज्जंतोमुहुत्तसमासो वि अन्तोमुहुत्तमेत्तो चेव। कथं णव्वदे? उक्कस्सकालो अन्तोमुहुत्तमेत्तो त्ति सुत्तवयणादो।" अर्थात् आहारक काययोगियों के द्विचरिम समय तक आहारक काययोग में प्रवेश का अन्तर करके पुनः उपरिम समय में अन्य जीवों का प्रवेश कराना चाहिये। इस प्रकार संख्यातवार शलाकाओं के उत्पन्न होने पर तत्पश्चात् नियम से अन्तर होता है। इस प्रकार संख्यात अन्तर्मुहुर्त्तों का जोड़ भी अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही होता है। इस तरह इस प्रकरण में अनेक विशेषताएँ हैं।

भागाभागानुगम अनुयोग द्वार में चौदह मार्गणाओं के अनुसार बन्धकों के भागाभाग की प्ररूपणा की गई है। यहाँ आचार्यों ने भाग से अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग का तथा अभाग से अनन्तबहुभाग, असंख्यातबहुभाग और संख्यातबहुभाग का ग्रहण किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रकरण महत्त्वपूर्ण है। ग्यारहवें अल्पबहुत्वानुगम अनुयोग द्वार में जीवों का अल्पबहुत्व प्रमाण बताया गया है। इसमें अन्य ग्रन्थों से एक विशेष बात यह बताई गई है कि निगोदिया जीवों को वनस्पतिकाय नहीं बताया है। इस प्रकार इस पूरे क्षुद्रकबन्ध में जीवों की प्ररूपणा स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगों द्वारा मार्गणाओं में की गई है।

प्रस्तुत जिल्द का सम्पादन अच्छा हुआ है, पर 'भावार्थ' का न रहना खटकता है। इससे साधारण पाठकों को तो लाभ होता ही था विशेष स्वाध्याय प्रेमियों को भी पर्याप्त लाभ होता। अर्थ में भी एक दो जगह न्यूनता प्रतीत होती है, पर तो भी सम्पादन श्रेष्ठ हुआ है। सम्पादक डा० हीरालालजी और सहसम्पादक प० बालचन्दजी साधुवादार्ह हैं। समाज जिन सिद्धान्त ग्रन्थों के दर्शन के लिये तरसता था, आज वे सर्वसाधारण के स्वाध्याय के लिये उपलब्ध हैं। डा० हीरालालजी का यह साहित्योद्धार कार्य अनुकरणीय है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई सुन्दर है, स्वाध्यायप्रेमियों को इसे अवश्य मगाना चाहिये।

—ब्र० प० चन्दाबाई, विदुषीरत्न

न्यायदीपिका (प्रस्तावना-टिप्पण-अनुवादादि सहिता)—रचयिता श्रीअभिनवधर्म भूषण यति, सम्पादक और अनुवादक न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जैन 'कोठिया' जैनदर्शन शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक वीर सेवा-मंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर, पृष्ठ संख्या १२+१०७+१०१+३+२४७ और मूल्य ५) रुपये।

यह जैन न्याय का प्राथमिक ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से जैन दर्शन के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि सरल और बोधगम्य भाषा में न्याय के विषय को विशद-रूप से विवेचन करनेवाली यह एकमात्र प्राथमिक कृति है। इसका प्रमाण और नय का सुस्पष्ट वर्णन अपनी नीजी विशेषता रखता है। ग्रन्थकार ने इसमें 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ किया है। इस ग्रन्थ में प्रमाण-लक्षण प्रकाश, प्रत्यक्ष प्रकाश और परोक्ष प्रकाश इन तीन प्रकाशों द्वारा उपर्युक्त विषयों का विवेचन किया गया है। प्रथम प्रकाश में प्रमाण संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय के लक्षणों के अतिरिक्त बौद्ध, भाट्ट, नैयायिक, प्रभाकर एवं मीमान्सक अभिमत प्रमाण लक्षणों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। अन्त में जैन मान्यता द्वारा अभीष्ट सविकल्पक अपूर्वार्थ ग्राही सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

द्वितीय प्रकाश में बौद्धों द्वारा अभिमत निर्विकल्प प्रत्यक्ष एवं नैयायिकों द्वारा अभिमत सन्निकर्ष प्रत्यक्ष की बड़ी सुन्दर समालोचना कर जैनाचार्यों द्वारा अभिमत 'विशद प्रत्यक्ष' की सिद्धि की है। आगे इसी प्रकरण में ज्ञानोत्पत्ति में अर्थ और आलोक का निराकरण कर विषय की प्रतिनियामिका योग्यता की सिद्धि की है। सर्वज्ञसिद्धि का संक्षिप्त और सुस्पष्ट विवेचन भी इस प्रकरण की मुख्य विशेषता है।

तृतीय प्रकाश में परोक्ष का लक्षण उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँचों भेदों का विशद वर्णन किया है। हेतु के 'अन्यथानुपपन्न' लक्षण का समर्थन करते हुए बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाञ्चरूप्य का निरसन बड़ी सुन्दर

युक्तियों से संक्षेप में किया है। इसके अनन्तर अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेदों का कथन हेतु भेदों के उदाहरण, हेत्वाभासों का वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनयाभास निगमन, निगमनाभास आदि अनुमान के अवयवों का अच्छा कथन किया है। ग्रन्थ के अन्त में नय का उपसंहार करते हुए अनेकान्त और सप्तभंगी का संक्षेप में प्रतिपादन किया है। इस प्रकार इस छोटे से ग्रन्थ में न्याय के सभी सिद्धान्तों का बड़ेही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन बड़ा ही सुन्दर हुआ है। उदीयमान नैयायिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पं० दरबारीलालजी ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के अनुशीलन के आधार पर महत्वपूर्ण टिप्पण देकर इसके सम्पादन में चार चाँद लगा दिये हैं। एक अजैन दर्शन के विद्वान् ने इसके सम्पादन को देख कर कहा कि "मैंने आज ही इस प्रकार की सुन्दर सम्पादित जैन दर्शन की पुस्तक के दर्शन किये हैं। इसके अवलोकन से सम्पादक की अतुलतलस्पर्शी योग्यता का पता सहज में ही लग जाता है", आदि। जिसे जैन दर्शन का जरा भी ज्ञान नहीं है, ऐसा अजैन दर्शनप्रेमी प्रत्येक सज्जन इस ग्रंथ की भूमिका से ही जैन दर्शन की दिशा एवं इतिहास का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सकता है। विद्वान् सम्पादक ने भूमिका में न्यायदीपिका के विषयों का अन्तरंग और बहिरंग परिचय तो दिया ही है, साथ ही प्रमाण, धारावाहिक-ज्ञान, प्रामाण्यविचार, प्रमाण के भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, अर्थ और आलोक की कारणता, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, मुख्यप्रत्यक्ष, सर्वज्ञता, परोक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, अवयवमान्यता, हेतुका लक्षण और भेद, हेत्वाभास एवं उदाहरण आदि का बड़ाही सुन्दर तुलनात्मक विवेचन किया है। उपर्युक्त विषयों के बारे में साधारण हिन्दी भाषा का जानकार भी आसानी से जान सकता है। वास्तव में इन विषयों का व्यवस्थित और सुन्दर विवेचन सम्पादक की अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है।

प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में न्यायदीपिका में उल्लिखित जैनेतर आचार्य शालिकानाथ, उदयन, दिग्नाग, वामन आदि का दार्शनिक परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उल्लिखित ग्रन्थ—तत्त्वार्थसूत्र, आप्तमीमांसा, महाभाष्य, जैनेन्द्रव्याकरण, आप्तमीमांसा विवरण, राजवार्त्तिक, न्यायविनिश्चय, परीक्षामुख प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और प्रमाणनिर्णय ग्रन्थों का उनके कर्त्ताओं सहित समालोचनात्मक परिचय कराया है। इस भूमिका के अध्ययन से उपर्युक्त ग्रन्थों और उनके कर्त्ताओं के सम्बन्ध में पाठक बहुत कुछ जान सकते हैं। ग्रन्थ के पिछले भाग में 'न्यायदीपिका' का अनुवाद सरल हिन्दी में दिया गया है। असंस्कृतज्ञ एवं थोड़ी संस्कृत जानने वाले भी इससे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं और जैन दर्शन की अनेक सूक्ष्मताओं को अवगत कर सकते हैं। ग्रन्थ के अन्त में आठ परिशिष्ट दिये हैं, जिन्होंने

इसकी उपादेयता और भी बढ़ा दी है। सब मिला कर इस ग्रन्थ का सम्पादन पूर्ण सफल कहा जा सकता है। वर्तमान में जैन समाज को इसी प्रकार के सुसम्पादित ग्रन्थों की आवश्यकता है। वीर सेवा-मन्दिर ने इस ग्रन्थ के द्वारा एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। इसके लिये मुख्तार सा० और सम्पादक न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी साधुवादार्ह हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को मंगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई सफाई सुन्दर है।

अध्यात्मकमल मार्त्तण्ड—रचयिता कविराजमल्ल, अनुवादक और सम्पादक न्यायाचार्य प० दरबारीलाल कोठिया, जैनदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ तथा प० परमानन्द जैन शास्त्री, प्रस्तावना लेखक प० जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर', प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर, पृष्ठ संख्या ७८+१०७ और मूल्य १॥) रुपया।

इस ग्रन्थ में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयभूत जीवादि सप्ततत्त्वों और उनके अन्तर्गत भेद प्रभेदों एवं द्रव्य, गुण, पर्याय आदि विषयों का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। आध्यात्मिक विषयों को प्रकट करने की शैली बड़ी ही सुन्दर और मार्मिक है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं, प्रथम परिच्छेद में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का संक्षेप में सुन्दर ढंग से निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में सप्ततत्त्व, द्रव्य, गुण, पर्याय एवं गुणपर्याय के भेद प्रभेदों का लक्षण सहित प्रतिपादन है। तृतीय परिच्छेद में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छः द्रव्यों का विस्तार सहित कथन है। और चतुर्थ परिच्छेद में जीव के वैभाविक भावों का सामान्य एवं विशेष स्वरूप, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की व्यवस्था एवं संवर और निर्जरा के भेद प्रभेदों का प्रतिपादन है। इस प्रकार यह समस्त ग्रन्थ आत्मकल्याण के लिये अत्यन्त उपयोगी है, इसके स्वाध्याय से आत्मप्रकाश और आत्मविस्तार में बहुत सहायता मिल सकती है। ग्रन्थ के पद्य ललित और प्रासादादि गुण विशिष्ट हैं, पाठक इसके स्वाध्याय से समयसारादि ग्रन्थों का सार ग्रहण कर सकते हैं। अस्तु

इस प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन उपर्युक्त विद्वानों ने गम्भीर विद्वत्ता पूर्वक किया है, प्रत्येक श्लोक के सामान्य अर्थ के साथ भावार्थ भी दिया गया है जिससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गई है। तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गये हैं। इन सब खूबियों के अतिरिक्त मुख्तार सा० की प्रस्तावना ने तो इसके सम्पादन में चार चांद लगा दिये हैं। केवल आप की प्रस्तावना ही एक लघु ग्रन्थ का कलेवर है, इसके अध्ययन से प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कविवर राजमल्ल के सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है। आपने प्रसंग वश जम्बूस्वामी चरित्र, पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता एवं छन्दोविद्या (पिङ्गल) आदि ग्रन्थों के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वास्तव में मुख्तार साहब का यह प्रथम स्तुत्य और

अभिनन्दनीय है। सब मिला कर ग्रन्थ का सम्पादन सुन्दर हुआ है, छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर है। प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी को, इसे मंगाकर पढ़ना चाहिये।

—पं० नेमिचन्द्र शास्त्री

दिगम्बर जैन-सिद्धान्त-दर्पण यानी प्रो० हीरालालजी के आक्षेपों का निराकरण (द्वितीय अंश)— लेखक : विविध दिगम्बर जैन विद्वान्; सम्पादक : श्री पं० रामप्रसाद शास्त्री, बम्बई; प्रकाशक : दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई और पृष्ठसंख्या : २०+३३२।

इस पुस्तक के प्रारम्भ मे पं० रामप्रसादजी, पं० अजितकुमारजी, सेठ सुन्दरलालजी ला० निरंजनलालजी और पं० उल्फतरायजी के अलग-अलग वक्तव्य हैं। जिनमें प्रोफेसर सा० की शंकाओं का समाधान किया गया है। इसके अनन्तर परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज, परमपूज्य स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य चन्द्रसागरजी महाराज, सर सेठ हुकुमचन्दजी, श्री० पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री आदि महानुभावों की सम्मतियाँ दी गई हैं, जिनमे प्रोफेसर सा० की शंकाएँ निराधार बताई गई हैं। इसके अनन्तर पूर्वपक्ष के रूप में प्रोफेसर साहब की शंकाएँ, जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय, शिवभूत्ति और शिवार्य शीर्षक निबन्ध दिये गये हैं। इसके आगे न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के दो लेख हैं। पहले लेख मे आपने निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सप्रमाण सिद्ध किया है और दूसरे मे रत्नकरण्डश्रावकाचार को स्वामी समन्तभद्र की कृति सिद्ध किया है। पश्चात् श्री १०८ तपोनिधि, राजगणपूज्य अनेक शास्त्र प्रणेता, विद्वद्वर, विश्ववन्द्य पूज्य आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज का एक लम्बा वक्तव्य है जिसमे प्रोफेसर साहब की शंकाओ का विस्तार सहित उत्तर दिया गया है। अनन्तर पं० पन्नालालजी सोनी सिद्धान्तशास्त्री, पं० परमानन्दजी शास्त्री, पं० अजितकुमारजी शास्त्री, पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंहजी एवं पं० झम्मनलालजी तर्कतीर्थ के निबन्ध हैं, इन निबन्धों मे पूर्वपक्ष में लिखित प्रोफेसर साहब के निबन्धों का सयुक्तिक उत्तर दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन सुन्दर नहीं हुआ है। देखने से पता लगता है कि जल्दबाजी मे एक संग्रह तैयार कर छपवा दिया है, प्रूफ संशोधन मे गलतियों की भरमार है। इन सब बातों के होते हुए भी पं० रामप्रसादजी शास्त्री का आम्नाय प्रेम प्रशंसनीय है। हमारा तो खयाल है कि अब प्रोफेसर सा० की शंकाओं का समाधान हो गया होगा। अतः इस चर्चा को यही समाप्त कर देना श्रेष्ठ होगा। स्वाध्याय प्रेमियों को इसे बम्बई पंचायत से अवश्य मंगाना चाहिये। इससे अनेक सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक बातों का ज्ञान होगा। छपाई-सफाई साधारण है।

—पं० परमानन्द साहित्याचार्य

ध्यानस्तवः

रचयिता—

आचार्य प्रवर भास्करनन्दी

संपादक—

धी० प० के० भुजबली शास्त्री,

विद्याभूषण

सम्पादकीय

इस ध्यानस्तव के रचयिता पण्डित प्रवर भास्करनन्दी हैं। आपके श्रद्धेय गुरु श्रीजिनचन्द्र भट्टारक हैं। परन्तु इस नाम के कई आचार्य और भट्टारक हो गये हैं, इसलिये निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि भास्करनन्दी के गुरु जिनचन्द्र कौन हैं। श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि सम्भवतः श्रवणबेलगोल के ५५ वें शिलालेख में अंकित जिनचन्द्र भास्करनन्दी के गुरु हैं[1]। किन्तु यह केवल अनुमान है। इस बात को प्रेमीजी ने २२-१ ४१ के अपने पत्र में भी स्पष्ट कर दिया है।

जिनचन्द्र नाम के एक और आचार्य हो गये हैं, जो 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के कर्त्ता पं० मेधावी के गुरु और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। यह शुभचन्द्राचार्य पद्मनन्दी आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता शुभचन्द्र से पहले हो गये हैं। पं० मेधावी ने 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ की दान प्रशस्ति में उनका विशेष परिचय दिया है[2]। इसी प्रकार एक भास्करनन्दी और हुए हैं, जिनका उल्लेख 'न्यायकुमुदचन्द्र' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। यह नन्दिसंघ के आचार्य देवनन्दी के शिष्य एवं सौरयनन्दी के प्रशिष्य हैं।[3] प्रस्तुत भास्करनन्दी 'तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति' के भी रचयिता हैं, यह वृत्ति मैसूर गवर्नमेन्ट ओरियन्टल-लायब्रेरी की ओर से प्रकाशित हो गई है। वास्तव में भास्करनन्दी सिद्धान्त विषय के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके अन्य ग्रन्थों से इनकी अगाध विद्वत्ता का पता सहज में ही लगाया जा सकता है।

प्रस्तुत ध्यानस्तव छोटा होते हुए भी आत्मकल्याणियों के लिये बड़े काम का है। क्योंकि सांसारिक वासनाओं से ध्यान के द्वारा ही मन हटाया जा सकता है। आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल इन चार ध्यानों में से धर्म और शुक्ल ध्यान ही उपादेय हैं। इस ग्रन्थ में इन चारों ध्यानों का बड़ाही सुन्दर विश्लेषण किया है। श्लोक ललित, मधुर और प्रासादादि गुणों से विशिष्ट हैं, पाठक काव्य के आनन्द के साथ साथ आत्मानन्द निर्झर में भी डुबकियाँ लगा सकते हैं।

१—देखें 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में 'ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय'।

२—यह प्रशस्ति 'भास्कर' भाग ११ किरण २ में प्रकाशित है।

३—देखें 'अनेकान्त' वर्ष १ पृ० १३३।

ध्यानस्तवः

परमज्ञानसंवेद्यं वीतबाधं सुखादिवत् ।
सिद्धं प्रमाणतस्सार्वं सर्वज्ञं सर्वदोषहम् ॥१॥
अन्तातीतगुणाकीर्णं योगाद्यैर्वास्तवैः स्तवैः ।
संस्तुवे परमात्मानं लोकनाथं स्वसिद्धये ॥२॥
सिद्धिस्स्वात्मोपलम्भस्स्याच्छुद्धध्यानोपयोगतः ।
सम्यग्दृष्टेरसंगस्य तत्त्वविज्ञानपूर्वतः ॥३॥
कर्माभावेह्यनन्तानां ज्ञानादीनामवापनम् ।
उपलम्भोऽथवा सोक्ता त्वया स्वप्रतिभासनम् ॥४॥
समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नावभासते ।
न तद्ध्यानं त्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥५॥
नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् ।
उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ॥६॥
ज्ञस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपश्यतः ।
स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यात्मवेदिनः ॥७॥
आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
तत्राद्यं संसृतेर्हेतुर्द्वयं मोक्षस्य तत्परम् ॥८॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य सम्प्रयोगाय सन्ततम् ।
संयोगे चामनोज्ञस्य तद्वियोगाय या स्मृतिः ॥९॥
पुंसः पीडाविनाशाय स्यादार्तं सनिदानकम् ।
गृहस्थस्य निदानेन विना साधोस्त्रयं क्वचित् ॥१०॥
हिंसनासत्यचौर्यार्थरक्षणेभ्यः प्रजायते ।
क्रूरो भावो हि यो हिंस्रो रौद्रं तद्गृहिणो मतम् ॥११॥
जिनाज्ञाकलुषापायकर्मपाकविचारणा ।
लोकसंस्थाविचारश्च धर्मो देव त्वयोदितः ॥१२॥
अनपेतं ततो धर्माद्यत्तद्धर्म्यं चतुर्विधम् ।
उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः ॥१३॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥१४॥
अनपेतं ततो धर्माद्धर्म्यं ध्यानमनेकधा ।
शमकक्षपकयोः प्राक् श्रेणिभ्यामप्रमत्तके ॥१५॥
मुख्यं धर्म्यं प्रमत्तादित्रये गौणं हि तत्प्रभो ।
धर्म्यमेवातिशुद्धं स्याच्छुक्लं श्रेण्योश्चतुर्विधम् ॥१६॥
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
आद्यं शुक्लं द्वितीयं तु विपरीतं वितर्कभाक् ॥१७॥
श्रुतज्ञानं वितर्कस्स्याद्योगशब्दार्थसंक्रमः ।
वीचारोऽथ विभिन्नार्थभासः पृथक्त्वमीडितम् ॥१८॥
श्रुतमूले विवर्तेते ध्येयार्थे पूर्ववेदिनोः ।
उक्ते शुक्ले यथासंख्यं त्र्येकयोगयुजोर्विभो ॥१९॥
सूक्ष्मकायक्रियस्य स्याद्योगिनस्सर्ववेदिनः ।
शुक्लं सूक्ष्मक्रियं देव ख्यातमप्रतिपाति तत् ॥२०॥
स्थिरसर्वात्मदेशस्य समुच्छिन्नक्रियं भवेत् ।
तुर्यं शुक्लमयोगस्य सर्वज्ञस्यानिवर्तकम् ॥२१॥
नानार्थालम्बना चिन्ता नष्टमोहे न विद्यते ।
तन्निरोधेऽपि यद्ध्यानं सर्वज्ञे तत्कथं प्रभो ॥२२॥
योगरोधो जिनेन्द्राणां देशतः कात्स्न्र्यतोऽपि वा ।
भूतपूर्वगतेर्वा तद्ध्यानं स्यादौपचारिकम् ॥२३॥
उक्तमेवपुनर्देव सर्वं ध्यानं चतुर्विधम् ।
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२४॥
स्वच्छस्फटिकसङ्काशव्यक्तादित्यादितेजसम् ।
दूराकाशप्रदेशस्थं सम्पूर्णोदग्रविग्रहम् ॥२५॥
सर्वातिशयसम्पूर्णं प्रातिहार्यसमन्वितम् ।
परमात्मानमात्मानं भव्यानन्दविधायिनम् ॥२६॥
विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम् ।
अनन्तवीर्यसंयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ॥२७॥

दहन्तं सर्वकर्माणि शुद्धेद्धध्यानवह्निना ।
त्वामेव ध्यायतो देव पिण्डस्थं ध्यानमीडितम् ॥२८॥
तव नामपदं देव मंत्रमैकाग्र्यमीर्यतः ।
जपतो ध्यानमाम्नातं पदस्थं त्वत्प्रसादतः ॥२९॥
तव नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः ।
ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडिम् ॥३०॥
शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् ।
देवं स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यानतोऽथवा ॥३१॥
रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः ।
आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥३२॥
संख्यातीतप्रदेशस्थं ज्ञानदर्शनलक्षणम् ।
कर्तारं चानुभोक्तारममूर्तं च सदात्मकम् ॥३३॥
कथञ्चिन्नित्यमेकं च शुद्धं सक्रियमेव च ।
न रुष्यन्तं न तुष्यन्तमुदासीनस्वभावकम् ॥३४॥
कर्मलेपविनिर्मुक्तमूर्ध्वव्रज्यास्वभावकम् ।
स्वसंवेद्यं विभुं सिद्धं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥३५॥
परमात्मानमात्मानं ध्यायतो ध्यानमुत्तमम् ।
रूपातीतमिदं देव निश्चितं मोक्षकारणम् ॥३६॥
देहेन्द्रियमनोवाक्षु ममाहङ्कारबुद्धिमान् ।
बहिरात्मा न सम्पश्येद्देव त्वां स बहिर्मुखः ॥३७॥
पदार्थान्नव यो वेत्ति सप्ततत्त्वानि तत्त्वतः ।
षड्द्रव्याणि च पञ्चास्तिकायान्देहात्मनोर्भिदाम् ॥३८॥
प्रमाणनयनिक्षेपैस्सद्दृष्टिज्ञानवृत्तिमान् ।
सोऽन्तरात्मा सदा देव स्यात्त्वां द्रष्टुमलं क्षमः ॥३९॥
जीवाजीवौ च पुण्यं च पापमास्रवसंवरौ ।
निर्जरा बन्धमोक्षौ च पदार्था नव सम्मताः ॥४०॥
चेतनालक्षणस्तत्र जीवो देव मते तव ।
चेतनानुगता सा च ज्ञानदर्शनयोस्तथा ॥४१॥

जीवारब्धक्रियायां च सुखे दु खे च तत्फले ।
यथा सम्भवमीगेय वर्तते चेतना तथा ॥४२॥
प्रतिभासो हि यो देव विकल्पेन तु वस्तुनः ।
ज्ञान तदष्टधा प्रोक्त सत्यासत्यार्थभेदभाक् ॥४३॥
मतियुक्त श्रुत सत्य समनःपर्ययोऽवधिः ।
केवल चेति सत्यार्थ सद्दृष्टेर्ज्ञानपञ्चकम् ॥४४॥
कुमतिः कुश्रुतज्ञान विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा ।
ज्ञानत्रयमिद देव मिथ्यादृष्टिसमाश्रयम् ॥४५॥
वस्तुसत्तावलोको य सामान्येनोपजायते ।
दर्शन तन्मत देव यहिरन्तश्चतुर्विधम् ॥४६॥
चक्षुरालम्बन तच्च शेषाचालम्बन तथा ।
अवध्यालम्बन पुंसो जायते केवलाश्रयम् ॥४७॥
दर्शन ज्ञानतः पूर्वं छद्मस्थे तत्प्रजायते ।
सर्वज्ञे यौगपद्येन केवलज्ञानदर्शने ॥४८॥
जीवलक्ष्मविपर्यस्तलक्ष्मा देव तवागमे ।
अजीवोऽपि श्रुतो नून मूर्तामूर्तत्वभेदभाक् ॥४९॥
शुभो य परिणामस्स्याद्भावपुण्य सुखप्रदम् ।
भावायत्त च यत्कर्म द्रव्यपुण्यमनादि तत् ॥५०॥
पुण्याद्विलक्षण पाप द्रव्यभावस्वभावकम् ।
ज्ञात सक्षेपतो देव प्रसादाद्भवतो मया ॥५१॥
कर्मागच्छति भावेन येन जन्तोस्स आस्रवः ।
रागादिभेदवान्योगो द्रव्यकर्मागमोऽथवा ॥५२॥
आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्यभावभिदात्मकः ।
तपोगुप्त्यादिभि साध्यो नैकधा सवरो हि स ॥५३॥
तपो यथा स्वकालाभ्या कर्म यद्भुक्तशक्तिकम् ।
नश्यत्तन्निर्जराभिख्य चेतनाचेतनात्मकम् ॥५४॥
जीवकर्मप्रदेशाना यस्सश्लेष परस्परम् ।
द्रव्यबन्धो भवेत्पुसो भावबन्धस्सदोषता ॥५५॥

बन्धहेतोरभावाच्च निर्जराभ्यां स्वकर्मणः ।
द्रव्यभावस्वभावस्य विनाशो मोक्ष इष्यते ॥५६॥
पदार्था एव तत्त्वानि सप्त स्युः पुण्यपापयोः ।
अन्तर्भावो यभीष्टो बन्ध अस्रव एव वा ॥५७॥
जीवस्सपुद्गलो धर्माधर्मावाकाशमेव च ।
कालश्चेति समाख्याता द्रव्यसंज्ञा त्वया प्रभो ॥५८॥
प्राणधारणसंयुक्तो जीवोऽसौ स्यादनेकधा ।
द्रव्यभावात्मकाः प्राणा द्वेधा स्युस्ते विशेषतः ॥५९॥
स्पर्शाष्टकेन संयुक्ता रसवर्णैश्च पञ्चभिः ।
द्विगन्धाभ्यां यथायोगं द्वेधा स्कन्धाणुभेदतः ॥६०॥
स्थूला ये पुद्गलास्तत्र शब्दबन्धादिसंयुताः ।
जीवोपकारिणः केचिदन्येऽन्योन्योपकारिणः ॥६१॥
जीवाः पुद्गलकायाश्च सक्रिया वर्णिता जिनैः ।
हेतुस्तेषां गतेर्धर्मस्तथाधर्मस्थितेर्मतः ॥६२॥
यद्द्रव्याणां तु सर्वेषां विवरं दातुमर्हति ।
तदाकाशं द्विधा ज्ञेयं लोकालोकविभेदतः ॥६३॥
वर्तनालक्षणः कालो मुख्यो देव तवागमे ।
अर्थक्रियात्मको गौणो मुख्यकालस्यसूचकः ॥६४॥
द्रव्यषट्कमिदं प्रोक्तं स्वास्तित्वादिगुणात्मकम् ।
कायाख्यं बहुदेशत्वाज्जीवादीनां तु पञ्चकम् ॥६५॥
कालस्यैकप्रदेशत्वात्कायत्वं नास्ति तत्त्वतः ।
लोकासंख्यप्रदेशेषु तस्यैकैकस्य संस्थितिः ॥६६॥
धर्माधर्मैकजीवानां संख्यातीतप्रदेशता ।
व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्गलानां त्रिधा तथा ॥६७॥
प्रमाणं वस्तुविज्ञानं तन्मोहादिविवर्जितम् ।
परोक्षेतरभेदाभ्यां द्वेधा मत्यादिपञ्चकम् ॥६८॥
नयो ज्ञातुरभिप्रायो द्रव्यपर्यायगोचरः ।
निश्चयो व्यवहारश्च द्वेधा सोऽर्हंस्तवागमे ॥६९॥

द्रव्य वा योऽथ पर्याय निश्चिनोति यथास्थितम् ।
नयश्च निश्चयः प्रोक्तस्ततोऽन्यो व्यावहारिक ॥७०॥
अभिन्नकर्तृकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा ।
व्यवहार पुनर्देव निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥७१॥
द्रव्यार्थपर्ययार्थाख्या पुनर्देव नयो मतः ।
सर्वे श्रुतविकल्पास्ते ग्राह्यभेदादनेकधा ॥७२॥
जीवादीना च तत्त्वाना ज्ञानादीना च तत्त्वत ।
लोकसव्यवहारार्थं न्यासो निक्षेप उच्यते ॥७३॥
स च नामादिभिर्भेदैश्चतुर्भेदोऽभिधीयते ।
वाचस्य वाचक नाम निमित्तान्तरवर्जितम् ॥७४॥
प्रतिमास्थापना ज्ञेया भूतभावि च केनचित् ।
पर्यायेण समाख्यात द्रव्य नयविवक्षया ॥७५॥
पर्यायेण समाक्रान्त वर्तमानेन केनचित् ।
द्रव्यमेव भवेद्भावो विख्यातो जिनशासने ॥७६॥
सम्यग्दर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयात्मक ।
मोक्षमार्गस्त्वया देव भव्यानामुपदर्शित ॥७७॥
विपरीताभिमानेन शून्य यद्रूपमात्मन ।
तदेवोत्तमतार्थाना तच्छ्रद्धान हि दर्शनम् ॥७८॥
तन्निसर्गात्पदार्थेषु कस्याप्यधिगमात्तथा ।
जीवस्योत्पद्यते देव द्वैधैव देशना तव ॥७९॥
निसर्गस्त्वस्वरूप स्यात्स्वकर्मोपशमादियुक् ।
तमेवापेक्ष्य यज्जात दर्शन तन्निसर्गजम् ॥८०॥
परेषामुपदेश तु यदपेक्ष्य प्रजायते ।
त्वयाधिगमज देव तच्छ्रद्धानमुदाहृतम् ॥८१॥
अथ चैत द्विधा प्रोक्त तत्कर्मक्षयकारणम् ।
सरागाधारमेक स्याद्वीतरागाश्रय परम् ॥८२॥
प्रशमादधसवेगात्कृपातोऽप्यास्तिकत्वत ।
जीवस्य व्यक्तिमायाति तत्सरागस्य दर्शनम् ॥८३॥

पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाश्रयं मतम् ।
द्वेधेत्युक्ता त्वया देव त्रेधाप्युक्तमदस्तथा ॥८४॥
मिथ्यात्वं यच्च सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
क्रोधादीनां चतुष्कं च संसारानन्तकारणम् ॥८५॥
श्रद्धानप्रतिघात्येतत् ख्यातं प्रकृतिसप्तकम् ।
एतस्योपशमादौपशमिकं दर्शनं मतम् ॥८६॥
क्षयात्क्षायिकमाम्नातं त्वया देव सुनिर्मलम् ।
सम्यक्त्वोदीरणात् षण्णामुदयाभावतस्तथा ॥८७॥
तासामेव तु सत्त्वाच्च यज्जातं तद्धि वेदकम् ।
सम्यग्दर्शनमीदृक्षं निश्चितं मोक्षकांक्षिणाम् ॥८८॥
जीवादीनां पदार्थानां यो याथात्म्यविनिश्चयः ।
तदभ्यधायि विज्ञानं सम्यग्दृष्टिसमाश्रयम् ॥८९॥
ज्ञानिनो मुक्तसंगस्य संसारोपायहानये ।
प्रशस्तागूर्णभावस्य सम्यक्श्रद्धानधारिणः ॥९०॥
कर्मादाननिमित्तानां क्रियाणां यन्निरोधनम् ।
चारित्रं तन्मुमुक्षोस्स्यान्निश्चितं मोक्षकारणम् ॥९१॥
श्रद्धानादित्रयं सम्यक् समस्तं मोक्षकारणम् ।
भेषजालम्बनं यद्वत्तत्त्रयं व्याधिनाशनम् ॥९२॥
अन्तातीतगुणोऽसि त्वं मया स्तुत्योऽसि तत्कथम् ।
ध्यानभक्त्या तथाप्येवं देव त्वय्येव जल्पितम् ॥९३॥
यन्न तुष्यसि कस्यापि नापि कुप्यसि मुह्यसि ।
किन्तु स्वास्थ्यमितोऽसीति स्तोतुं चाहं प्रवृत्तवान् ॥९४॥
इत्येवं युक्तियुक्तार्थैः प्रस्फुटार्थैर्मनोहरैः ।
स्तोकैरपि स्तवैर्देव वरदोऽसीति संस्तुतः ॥९५॥
रुष्टा तुष्टा करोपि त्वं किञ्चिदेव न कस्यचित् ।
किन्त्वाप्नोति फलं मर्त्यस्त्वय्येकाग्रमनास्स्वयम् ॥९६॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं भक्त्या संस्तवभर्मणा ।
किञ्चिज्ज्ञेन मया किञ्चिन्न कवित्वाभिमानतः ॥९७॥

यन्मेऽत्र स्खलितं किञ्चिच्छद्मस्थस्यार्थशब्दयोः ।
तत्सवित्त्यैव सौजन्याच्छोध्य शुद्धैर्बुद्धिभिः ॥९८॥
नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं हेहि याहीति जातु ।
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घाटयेद्वार्न दत्ते ॥
नावष्टभ्नाति किञ्चिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोगः ।
कृत्वा सन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुप्रपूज्यः ॥९९॥
तस्याभवच्छ्रुतनिधिर्जिनचन्द्रनामा ।
शिष्योऽनु तस्य कृतिभास्करनन्दिनाम्ना ॥
शिष्येण सस्तवमिमं निजभावनार्थम् ।
ध्यानानुगं विरचितं सुविदो विदन्तु ॥१००॥

ध्यानस्तवः समाप्तः ।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२—वि० सं० २००२, वी० सं० २४७२

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०, डी० एल०
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन सिद्धान्त-भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४६

वार्षिक-विषय सूची, भाग १२

(किरण १)

(किरण २)



THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI JAN 1946 No. II

Edited by

Prof Hiralal Jain M A, LL.B D Phil
Prof A N Upadhye, M A., D Litt
Babu Kamata Prasad Jain M R A S, D L
Pt K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/-

CONTENTS.



Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol XI
No II

ARRAH (INDIA)

Janunry,
1946

JAIN IMAGE OF SARASWATI IN THE LUCKNOW MUSEUM

By
K D Bajpai, M A
Custodian Provincial Museum Lucknow

There is a mutilated image of goddess Saraswati (J 24) in the Provincial Museum Lucknow It was found in 1889 near the eastern temple of the well known Kankāli mound and measures 1'9½ × 1'2½ The goddess is sitting squatted on a rectangular pedestal with knees up Her head is broken and the left breast has been damaged In her left hand she holds the Sacred Book which appears to be tied with a ribbon The right hand which was raised probably in the *abhayamudrā* has been lost The goddess wears a loose cloth round her loins and a part of this cloth covers the shoulders There is one bracelet on each of her wrist and part of rosary is visible over the bracelet of the right hand

The image can be dated in the 2nd century A. D, as will be shown shortly

On either side of the main figure there is an attendant with hair beautifully dressed The one on the right of the goddess wears a tunic and holds a jar (*kalaśa*) in his hand while the attendant on her left is folding his hands in adoration The right hand attendant appears to be a man of Scythic origin from his dress

as well as his features. Tunic was a foreign dress generally worn by Śakas and it had not become a common Indian dress in the early Kuṣāna period. There is abundance of proof to show that the early foreign invaders, particularly the Scythians and Kuṣāṇas had come under the influence of the Indian religions, especially Buddhism and Jainism.

There is an interesting inscription of seven lines inscribed on the pedestal of the image[1]. It reads thus—

1. (सिद्) धं सव ५०, ४ हेमंतमासे चतुर्थे ४ दिवसे १० अ-
2. स्य पूर्व्वायां कोट्टियातो गणातो स्थानियातो कुलातो
3. वेरातो शाखातो श्रीगृहतो संभोगातो वाचकस्यार्य्य
4. हस्तहस्तिस्य शिष्यो गणिस्य अर्य्यमाघहस्तिस्य श्रद्धचरो वाचकस्य अ-
5. र्य्यदेवस्य निर्व्वर्त्तने गोवस्य सिहपुत्रस्य लोहिक कारुकस्य दानं
6. [स] र्व्वसत्वानां हितसुखा एक सरस्वती प्रतिस्थापिता अवतले रंगनर्त्तनो
7. [मे]

"Success! In the year 54, in the fourth month of winter, on the tenth day, on the (lunar day) specified as above, one (statue of) Saraswatī, the gift of the smith Gova (Gopa), son of Siha, (made) at the instance of the preacher (*vāchaka*) Āryya Deva, the *śraddhachara* of the *gaṇin* Āryya Māghahasti, the pupil of the preacher Āryya Hastahasti, from the Koṭṭiya *gaṇa*, the Sthāniya *kula*, the Vairā *śākhā*, and the Srīgriha *sambhoga* has been set up for the welfare of all beings. In the *avatala* my stage dancer (?)"

The date 54 here is to be dated in the Kuṣāṇa era commencing from 78 A.D. and corresponds to 132 A. D. The inscription and the image, therefore, belong to the reign of Huvishka, who ruled after Kanishka. Dr. Buhler formerly thought the date to be 84[2]. But later on he correctly changed it into yr 54. Mr. V. A. Smith read it as 44[3], thinking the left hand symbol to denote 40, but on close examination the symbol clearly appears to be of 50 and so the reading 54 is sound.

---

(1) For readings and comments on the inscription see Bühler, *E. I.* I p 391, Smith, *Jain Stupa*, P. 56-7, Lüders, *I A.*, 1904, Pp. 104-5.

(2) Vienna Oriental Journal, Vol. III, p. 2 39.

(3) *Jain Stupa*, P. 57.

From the inscription it is clear that the image of Saraswati was installed in a religious temple by the ironsmith Gopa at the instance of a Jain preacher of the *Koṭṭiya gaṇa* The names of persons mentioned in this inscription exactly correspond to those enumerated in the Mathura Jain image inscription of the year 52[1] It is interesting to note that a person named Deva who was acting in yr 52(130A D) as the spiritual teacher of a number of people belonging to smith s caste is found in the same capacity in the yr 54 (132A D)

In this epigraph the names of persons who made donation of the statue are given along with the names of their religious preachers and their official titles The term *vāchaka* designates a reciter or teacher The word *gaṇin* signifies probably the head of a school (*gaṇa*) The names of the different schools with their sub divisions (*kulas* and *śākhās*) are also given in this inscription In the *Kalpasūtra* of the Jainas there is an enumeration of different *gaṇas*, *śakhās* and *kulas* About ten of these *gaṇa*-names also occur in inscriptions of the Kushāna period

In the present inscription the teachers who are said to have advised the donation of the image belonged to *Koṭṭiya gaṇa* In other epigraphs Kottiya is mentioned as *Koṭiya* or *Kauṭika* gana, which split up into four *Śākhās* and four *kulas* According to the *Kalpasūtra*[2], Sushita who was ninth in succession from Vardhamāna, along with Supratibuddha originated the *Koṭṭiya gaṇa*

From epigraphic evidence it may be gathered that at about the beginning of the Christian era there existed a number of Jain schools with their different *kulas* and *śākhās* which spread up in northern India during the Kushāna period This was an age of great religious activity Buddhism also underwent a number of modifications and it split up into two main branches the *Mahāyāna* and the *Hinayāna* sects In the north, Bodh Gayā grew up as an early centre of Hīna yāna, while in the south Nāgārjunīkonda and Amravati became flourishing centres of Māhāyāna. A number of inscriptions from Nasik, Nāgārjunīkoṇḍa and Amravati bear testimony to the fact

(1) Edited by Bühler *E I* II p 203 no 18

(2) Edited in *Sacred Books of the East* Series Vol. XXII, P 292

that there had sprung up a number of branches and communities in Buddhism that prevailed in the south during the first three centuries of the Christian era.

It may be mentioned that the images of Saraswatī are sometimes met with in the modern Jain temples mostly of the Śvetāmbara school. But old images like the present one are very rare Saraswatī is primarily a deity of the Hindu pantheon. In Hinduism worship of this goddess as the presiding deity of learning and wisdom has been prevalent since very early times, but it is surprising to note that the images of Saraswatī in Hindu art are hardly found before the Gupta period, when the image-worship of this goddess had become popular. In the early and later Medieval periods, beautifully carved and highly decorated images of Saraswatī were made. The goddess is often represented as the attendant of Vishnu along with Lakshmī, and is depicted as playing on her *vīnā* and sometimes also holding the Sacred Book in one of her four hands. The occurence of Saraswatī's figure in the Jain art need not surprise one. The goddess being the embodiment of Learning and the presiding deity of the Muses has been given a venerable position in the Jain scriptures and the Jain pantheon and hence she figures in the Jaina sculpture as a symbol of knowledge and wisdom



The Jaina Chronology.

By
Kamta Prasad Jain, LL. D., M. R. A. S.

(Continued from Vol X No I p 19)

No	Period & Date	Events
128	55 B C	Subhadra the ten Angadhārī flourished —(Dhavalā I, Intro p 27)
129	37 B C	Yaśobhadra, the ten Angadhārī flourished (*Ibid*)
130	32 B C	Mathura Jaina image inscription of Samvat 25, records the gift of Vasu, the wife of a dyer, the daughter of Nandi (Nandin), the daughter in law of Jabhaka, the wife of Jayabhaṭṭa (Refs Ep Ind I, 384 & Ind Ant XXX, 37-38)
131	19 B C	Mathurā Jaina elephant capital inscription of Saṃvat 38 engraved on the base of the large figure of an elephant surmounting the hill capital of a pillar & records the setting up of a *Nandiviśala* by the Sreṣṭin Rudradāsa the son of the Sreṣṭin Śivadāsa for the worship of the Arhats (Ref IA, XXX 40 41 & JBAS, LXVII, pt. I, p 276)
132	17 B C	Mathurā Jaina image inscription of Sam 40, incised on the four faces of the pedestal of a quadruple image consisting of four erect naked standing Jinas placed back to back. Ref Ep Ind I 387

No.	Period & Date	Events
133	...	Kośāmbi āyāgapaṭṭa inscription of Kuśan period records that Sthavirā Baladāsā, disciple of Śivanandi, caused it to be made for the worship of the Arhatas by Śivapālita in the reign of king Śivamitra. संप्रजैस्मा० p. 25.
134	14 B. C.	Bhadrabāhu, angadharī flourished. Ref. (Dhavalā, *loc. cit.*)
135	26 A. D.	Mathurā Jain image inscription of Saṃ. 83 records the gift of Jinadāsi, the daughter of Sena, the daughter-in-law of Datta, the wife of the perfumer Vyas, in the reign of Mahārāja Vasudeva. Ref. JRAS., V. 184 & IA. XXX. 107.
136	38 A. D.	Lohācārya Angadhara flourished (Dhavalā, *loc. cit.*)
137	46 A D.	Vik. Saṃ. 103. A *Chánvîsî-pata* image of this date exists at Brahmottara (Pratapgarh). Ref. JM. XVI. No 20 p. 5
138	66 A D.	Arhadbali-ācārya flourished, who arranged the subdivisions of Mûlasaṃgha (Dhavalā, *loc. cit.*)
139	78 A. D.	Advent of Śaka Saṃvat. (Trilokasāra)
140	80 or 81 A.D.	Vik. Sam. 136. The Ardhaphālakas, forerunners of the Śvetāmbaras put on white clothes and proclaimed themselves as 'Śveta-patas' at Valabhi, Śvetāmbaras say that

No	Period & Date	Events
		Digambaras originated at this time, which is not proved independently Ref Darśanasāra, Hariṣena's Kathākosa and SJI, II, 2, 73 78
141	87 A D	Māghanandi, one angadhāri flourished Ref Dhavalā, *loc cit*
142	81 to 165 A D	Kundakundācārya, the greatest pontiff of the Mūlasamgha flourished His traditional names are (1) Kondakunda, (2) Padmanandi (3) Vakragriva, (4) Elācārya and (5) Gridhra pichha It is said about him that he visited the Samośarana of the living Tirathankara Srīmandarasvāmi in Videhakṣetrā and learned first hand knowledge of the Jaina doctrine from him' 84 Pāhudas works are attributed to him, but only a very few are available Ref Upadhye's Pravecanasāra, Intro
143	84 to 134 A D	Lohācārya converts people of Agrota clan to Jainism who came to be known as Agrawālas afterwards Ref SJI, II, 2, 82-83
144	100 Circa ,,	Jinasenācārya converts kṣatrayas and other people to Jainism at Khandela grāma, who are known today as Khandelawalas (*Ibid*)
145	96—152 A D	Naked Jaina images belonging to this period were unearthed by Lūders from the mound of Ahichhatra Distt. Bareilly in U P Ref SJI, II, 2, 58

No.	Period & Date	Events
146	100 A D.	Śivārya, the contemporary to Ārya Jinanandigaṇi, Ārya Sarvaguptagaṇi and Ārya Mitranandi, composes his "Bhagavati Ārādhanā" probably by this date Ref JH. XI, 548
147	106 A. D.	Dharasenācarya flourished and dictated the Anga knowledge to his disciples Puspadanta and Bhūtabali Ref. Dhavala, *loc. cit.*
148	136 to 156 A. D.	Acārya Puspadanta and ācārya Bhūtabali flourished & recorded the extant Jaina Āgama into black and white on Jyestā Shukla Panchamī; which is known as "Śrutapanchamī." Soon after it Jayapālita met these ācāryas, when they finished their Vassa at Ankales' war and went with them to Vanavāsa country. Dhavalā *loc. cit.*
149	180 A. D.	Jaina inscription from Junagarh of Rudra Sinha's time, son of Rudradāman records that some caves were built for Jaina Śramaṇas Ref. Cave Temples of India, pp. 190-196 and Arch: Survey of west: India (Burgess) Vol. II pp. 140-141.
150	200 A.D.	The fort of "Dharanî-kotā" in the district of Krishnā, was built by the Pallava king Mukatēśvara, who belonged probably to the 2nd century A. D. The Jaina community was

No	Period & Date	Events
		prominent and held a successful debate with the Brāhmanas Ref MJS p 23
151	200 A D	'The epigraphical records show that until the 2nd or 3rd century A D practically all royal and private benevolences were bestowed upon Jaina and Buddhist Institutions and that patronge of Brahmanas, as such, and of Brahmanical deities did not begin until after that time The masses followed the religious traditions of their forefathers and Buddhist and Jaina monastries continued to be public schools and universities for the greater part of India ' — Havell Ref HARI, pp 147 156

To be continued

JAIN RULES OF ETIQUETTE

By

Dr B. C Law, M A, B L., Ph D., D. Litt.

The Jain rules of etiquette are as interesting as the Hindu and Buddhist rules of decorum[1]. The Jain rules of conduct as laid-down in the Ācārāṅga Sūtra contain also the rules of decorum. As there are no penal laws attached to them, the rules of conduct may be fairly treated as the rules of decorum and of etiquette. They are sufficiently exhaustive and reasonable. They are classified under such general heads as begging, walking, modes of speech, entry into others' possessions, postures, place of study, and attending to the calls of nature. Here begging includes the begging of food and drink, the begging for a bowl, the begging of clothes, and the begging for a residence, or a couch. Under these sub-heads are to be found the rules governing the modes of eating and drinking, dressing and lying down. Walking includes travelling, crossing, swimming and other forms of movement. The postures are those which are included in religious exercises.

The reasons of arguments behind these rules are based on such general principles as the avoidance of situations in which the monk or nun may be guilty of hurting or killing all forms of life, or of inconveniencing others, or of wounding social, moral or religious scruples of others, the avoidance of situations in which the monk or nun may run the risk of endangering his or her own position, or of receiving bodily injuries, or of feeling discomfort, or of being found guilty of theft or trespass, or of moral degradation, or of mental perturbation, and the avoidance of all situations in which the monk or nun may be found acting under the slightest influence of greed, ill-will, evil intention, discontent, delusion, inconsideration, haughtiness, and the like.

---

1 B C. Law, *Buddhist rules of decorum,* (Dr. R. K. Mookerjee presentation Volume-Bhūrata Kaumudi.)

First, as to dressing and begging of clothes

The full dress of a Jain (Śvetāmbara) monk consists of two linen undergarments and one woollen upper garment Among other requisites, he is to possess an almsbowl with six articles belonging to it, a broom (*rajoharana*) and a veil for the mouth (*mukha vatthikā*) At the advent of the hot season he is to leave off the used] upper garment of the three and to be clad with an upper and under garment or with the undermost garment, or with one gown or with no clothes[1] *If a monk is young* strong and healthy he may wear one robe, and not two In the case of a nun, she is to have four raiments one two cubits broad, two three cubits broad, one four cubits broad the first to wear in the cloister, the second and third for out-of door, the fourth for assemblies[2]

A mendicant who is provided with three robes, shall not beg for a fourth robe who is provided with two robes shall not beg for a third robe who is provided with one robe, shall not beg for a second robe

In begging for clothes, a mendicant may specify their quality so that they may be pure and acceptable to him He shall ask for those clothes which he has well inspected as to their purity and acceptability He shall ask for those clothes which at the moment are not wanted or meant for others He shall ask for only those clothes which may be spared immediately

Properly and fully dressed, a mendicant shall enter into the abode of a householder for the sake of alms and go to the out of door place for religious practices or study, and wander from village to village During heavy showers, however he shall not be fully dressed Even in face of all dangers he shall not part with clothes, leave the road or take another path but unperturbed and with his mind not directed to outward things and circumspectly he shall wander about in the country

These are quite in accord with the Buddhist rules of conduct and decorum Among those which are in conflict with the Buddhist,

1 *Ācārānga Sutra* S B E. Vol XXII I 7, 4 7

2 *Ibid* , II 5 1

the first and foremost is that which permits a mendicant going naked. The second objectionable rule from the Buddhist point of view is that a Jain mendicant is to wear the clothes in that state in which he receives them from the donor, and not to wash or dye them, nor is he to wear washed or dyed clothes, nor to hide his (dirty) clothes when passing through other village, being careless of dress He is not to wash his clothes, rub or wipe them with ground drugs, nor to clean or wash them in plentiful water, because they are not new[1].

The Ācārāṅga Sūtra refers to the ugly habits of the Jain mendicants It says, "Some householders are of clean habits and the mendicants, because they never bathe, are covered with uncleanliness; they smell badly, they are disagreeable, they are loathsome[2].

Secondly, as to eating and begging of food and drink :

A mendicant shall not eat or accept food or drink which is impure and forbidden. The impure food is that which is placed on a post or pillar or beam or scaffold or loft or platform or roof or some such-like elevated place, that which is kept in earthenware, that which is kept on the earth-body, the wind-body, and the fire-body, that which is cooled by blowing or fanning, and that which is placed on vegetable or animal matter[3].

The impure drink is the water which has been used for watering flour or sesamum or rice, or which has been recently used for washing, which has not acquired a new taste, nor altered its taste or nature, nor has been strained[4].

The forbidden food consists of the juice of fruits, raw things that contain the slightest trace of life in them, meat and fish diet, and the food which is wanted by or meant for others.

The forbidden drink includes all kinds of alcohol. A mendicant on a begging tour shall not go to a festival, proceded or followed by an entertainment, to partake of it, knowing that chiefly meat or fish will be served, nor to a wedding breakfast, nor to a funeral dinner, or to a family dinner[5].

---

1 Ācārāṅgas, I, 7 4. 1; II, 5. 1. 17; II, 5. 2. 1.

2 *Ibid.*, II, 2, 2, 1.

3 *Ibid*, II, 1, 7.

4 *Ibid.*, II, 1, 7.

5 *Ācārāṅga Sūtra*, II. I, 4. 1.

A mendicant on a begging tour shall not stand leaning against the door post of the householder's abode, or his sink or spitting pot, nor in sight of, or opposite to his bathroom or privy, nor should he contemplate a loophole or a mended spot or a fissure of the house or the bathing house, showing in that direction with an arm or pointing with a finger[1]

He shall not beg pointing with a finger at the householder or moving him with a finger, threatening or scratching him with a finger, praising or cursing him[2]

Thirdly, as to walking

A mendicant shall watchfully wander from village to village He shall look forward for four cubits, and seeing animals he shall move on by walking on his toes or heels or the sides of his feet or shall choose some by path He shall avoid treading on living beings, seeds, grass water or mud He shall not choose the road which lies through places belonging to borderers, robbers, etc

In crossing a river, he shall cautiously enter the boat with the owner's permission He shall not choose the stern or the prow or the middle of the boat, nor should he look at it holding up his arms, pointing at it with his finger On getting into the boat, he shall step apart, examine his dress put aside his provender, and wipe his body from head to heels While swimming in the water, he shall not dive up and down, lest water will enter into his ears, eyes, nose or mouth nor shall he touch another person s hand, foot or body with his own

He shall not wipe or rub or brush or stroke or dry or warm or heat his body in the sun before the water on his body has dried up and the moisture is gone

He shall not travel, conversing with householders If he comes across a shallow water, he shall circumspectly wade through it With his feet soiled with mud, he shall not walk out of the way and destroy the grass by treading or trampling

Fourthly, as to sleeping

Having spread a perfectly pure bed or couch a mendicant shall

1 *Ibid*, II 1 4 1
2 *Ibid* II, 1 6 3

cautiously use it, wiping first his body from head to heels. While sleeping, he shall take care that his bed or couch is kept at such a distance from that of the next person that he does not touch his neighbour's hand, foot or body with his own. Before inhaling or exhaling, coughing or sneezing, yawning or vomitting, he shall cover his face or the place where it lies[1].

Fifthly, as to speaking :

He shall speak with precision, employing language in moderation and restraint, which is grammatically correct, and understanding its true import. He shall use true and accurate speech, which is not sinful, blameable, rough and harsh. If in addressing a man, he does not respond, he shall not say, "You low fellow! You lout! You Śudra ! You low-born wretch! or the like." It is better for him to say, O longlived one! O faithful one! O lover of truth! or the like[2].

A mendicant, seeing any sort of diseases shall not talk of them in this way : "He has got boils or leprosy, his hand is cut, or his foot, nose, ear or lip is cut." Seeing any sort of good qualities, he shall speak thus: "He is strong, powerful, vigorous, famous, well-formed, well-proportioned, handsome[1]."

Sixthly, as to attending to the calls of nature :

A mendicant shall ease nature on the ground which is well inspected and cleaned, and which is not infected by eggs or living beings. He shall not ease nature on a pillar or bench or scaffold or loft or tower or roof, nor on a bare ground, the wet ground, the dusty ground, nor on a rock or clay containing life, etc. He shall take his own chamber-pot or that of somebody else, and going apart with it, he is to ease nature in a secluded place where no people pass or see them, and leave the excrements on a heap of ashes etc[2].

The instances need not be multiplied. Those cited are enough to show that the Jain rules of conduct and of decorum, agreeing in their essential features with the Buddhist rules, were broadbased upon careful considerations and keen observations. A comparative study of these rules as enforced by different religions of India and of the world is sure to yield many fruitful results.

---

1 *Ācārāṅga*, II, 2, 3, 26-28.

2 *Ibid.*, II, 4, 1.

3 *Ācārāṅga Sūtra.* I, 4, 2, 1-2.

4 *Ibid.*, II, 10.

ṬAVANIDHI

By

Prof Dr A N Upadhye

With reference to my paper 'Tavanidhi *and its Inscriptions* (Jaina Antiquary X. ii pp 49 51), Professor S Śrīkantha Śāstri has contributed a learned note (Ibidem XI i, pp 1 3) drawing our attention to some more localities, called Tavanandi and Tavanidhi, referred to in inscriptions and his conclusion stands thus 'it is probable that Tavanandi near Sorab is Tavanidhi mentioned by Nayasena' The information given by Nayasena is very meagre he only refers to Pārsvajina standing at Tavanidhi and it is now left for us to try to identify this place with some or other present day locality having a similar name Besides the one that was brought from Hukeri and established there in 1880, Tavanidhi (Dt. Belgaum) contains two images of Pārsvanātha which are pretty old as noted in my paper It is on this ground that I thought that Nayasena is referring to this place One cannot be dogmatic, because Nayasena's information is scanty Professor Śāstri is silent on the point whether any image of Pārśvanātha is found at Tavanandi which he wants to identify with Tavanidhi referred to by Nayasena I hope, other scholars would shed more light on this point

With regard to the evidence of the Tīrthamālā, Professor Śāstri remarks thus 'Śilavijaya's Tīrthamālā quoted by Prof Upadhye is not precise also' He need not have doubted the precision of my remark which runs thus on the authority of Jaina Sāhitya aura Itihāsa by *Pt. Premi Śilavijaya, a Śvetāmbara Jaina monk, visited various* Jaina holy places of Deccan in Samvat 1731 32(57=1674 A D) and wrote an account called Tīrthamālā He refers to Tavanidhi (wrongly written as Navanidhi) rather casually along with Rāyabāga and Hukeri The contemporary ruler was Śivājī I see no reason why the precision of this remark should be questioned Śīlavijaya is more than precise, as compared with Nayasena's statement about Tavanidhi He mentions two nearest important places like Rāya bāga and Hukeri, and his reference to Śivājī as a contemporary ruler in 1674 is quite significant From these details, it is clear that Śīlavijaya is referring to Tavanidhi in the Belgaum Dt For those

and are disowned by the Digambaras. Out of this subsidiary canonical literature with the exception of the Aṅgas, the lists and the titles of the texts are not always uniform. The number of the Painnās, for instance, is very indefinite and varies to a great extent. Sometimes Nandi, Anuyogadāra and Pañcakappa are placed at the head of the Painnās. The traditional number of books in the Siddhānta is forty-five (Dṛṣṭivāda being lost), but the number of texts mentioned in various places varies between forty-five and fifty[1].

The Redaction and the age of the Jain Canon.

According to the Jain tradition, the disciples of Mahāvīra, known as Gaṇadharas or heads of schools, compiled the Master's words in the Aṅgas and Upāṅgas. Regarding the antiquity and the authority of the Canon, the Śvetāmbara Jains have the following tradition:

The original doctrine was contained in the fourteen Puvvas (Pūrvas) 'old texts', which Mahāvīra himself had taught to his Gaṇadharas. The knowledge of the "old texts" was, however, soon lost. Only one of Mahāvīra's original disciples handed them down, and that they were only preserved for six generations. Now in the

---

Mūla Sūtras are also sometimes given as Ohanijjutti (Ogha Niryukti) and Pakkhi (Pākṣika Sūtra), and sometimes the Pindanijjutti and Ohanijjutii appear in the list of the Cheya Suttas (vide Winternitz History of Indian Literature Vol II, P. 428ff) of also Nandi (Su 43f) where the canonical works are divided into Aṅgas and Aṅgabāhiriyas ("texts standing outside the Aṅgas) or Aṅgapavittha (belonging to the Aṅgas) and Anaṅgapavittha (not belonging to the Aṅgas). The former is further divided into twelve Aṅgas or Dvādaśāṅga also known as Gaṇipiḍaga The latter is divided into Āvassaya and Āvassaya-vairitta The former is sub-divided into six, whereas the latter into two, viz. (1) Kāliya and (2) Ukkāliya. The Kāliya and Ukkāliya have various divisions, out of which large number of w6rks are not available at present.

1: Cf. the list of eighty four Āgamas consisting of eleven Aṅgas, 12 Uvāṅgas 5 Cheya-suttas, 3 Mūla-suttas, 30 Painnagas, 2 Cūliya suttas, Pakkhiya sutta, Khamaṇa sutta, Vandittu sutta, Isibhāsiya, Pajjosanakappa, Jīyakappa, Jaijīyakappa, Saddhajīyakappa, 10 Nijjuttis, Pinda-Nijjutti, Saṁsatta-Nijjutti and Visesāvassayabhāsa (H. R. Kapadia, The Canonical Literature of the Jainas, P. 58).

second century after Mahāvīra s death, there was a terrible famine in Magadha which lasted for a long period This seriously affected the study of the Jain monks who could hardly get sufficient alms for their maintenance In fact a number of monks, for want of food and drink, had to lose their precious lives In course of time, when the famine was over, a council was convoked at Pātaliputra after *about 160 years of Mahāvīra s death (i e about 307 B C)* and the sacred lore which was in a state of decay, was put in order We learn from the Āvaśyaya cūrni[1] that during the period of a long terrible famine in Magadha the monks had left the country and had migrated to the sea shore After the end of the famine they assembled in Pītaliputra and by collecting a section (uddesa) from one and a portion (khaṇḍa) from another compiled the eleven Angas But nobody remembered the Ditthivāya Thereupon a couple (sanghādaa) of monks were sent to Bhadrabāhu who knew the fourteen Pūrvas and who had already retired to Nepala in order to undertake the Mahāprāṇavrata But Bhadrabāhu declined to teach Ditthivāya since he was engaged in meditation The monks returned and reported the matter to the Jain Sangha of Pātaliputra whereupon two other monks were deputed to Bhadaabāhu asking him as to what penalty could be prescribed for disobeying the order of the Sangha since he had committed the same offence Later on being threatened with ex-communication Bhadrabāhu agreed to teach *Diṭṭhivāya on certain conditions in seven instalments (padipucchagāni)* Then five hundred monks were deputed to Nepala to learn Diṭṭhivāya, but gradually all except Sthūlabhadra dropped out who succeeded in learning all the Pūrvas But as penalty for some offence which he had committed towards his teacher he was made to give the word of honour not to teach the last four Pūrvas to anybody Thus the knowledge of the Pūrvas went into a state of oblivion from the time of Sthūlabhadra[2] This is known

1 II P 187 *also cf Titthogali painnya quoted in the* article 'Vīra Nirvāna aur Jain Kalaganana' by Kalyan Vijaya in the Nāgarī Pracārinī Patrika vols X XI, PP 94 103

2 For the loss of Diṭṭhivāda see Weber s Sacred Literature of the Jains PP 54 ff, reprinted from the Indian Antiquary, Bombay 1893, and C. J Shah s Jainism in North India, P 239

as the Pāṭaliputra version (vācanā) of the Jain Canons.

Then in the course of time, the sacred books of the Jains, again were reduced to a state of disorder and so between the year 827 and 840 after the death of Mahāvīra (i. e. 360-373 A D.) another council was summoned at Mathurā under the presidentship of Ārya Skandila. We read in the Nandi Cūrṇi (P 8) that during the time of terrible famine which lasted for a very long time it became difficult for the monks to obtain their alms and so they were unable to continue the study of the scriptures and consequently a great portion of the canon was lost. In the course of time, after the famine came to an end, a council was convened at Mathurā and whatever could be gathered from different monks, was collected and was fixed in the form of the Canon known as Kāliyasuya. According to another tradition, however, no Canon was lost during this period, but except Ārya Skandila most of eminent monks, versed in the Agama (Anuyogadharāh) lost their lives. This is known as the Māthuri version (vācanā) of the Canons.

Simultaneously another council was summoned at Valabhi under the presidentship of Nāgārjuna Sūri in which the Canons were fixed and what was forgotten was compiled after careful edition[1]. This fact is corroborated by the statement in the Jyotiṣkaraṇḍaka Ṭīkā (P. 41) where it is stated that in the time of Skandila there was a terrible famine when the Jain monks had to discontinue their studies. Later on, at the end of the famine, one Saṅgha met at in Valabhī and another at Mathurā. According to Malayagiri, the author of the Jyotiṣkaraṇḍaka Ṭīkā, Anuyogadvāra and other Canons are based on the Māthurī version whereas the Jyotiṣkaraṇḍa on the Valabhī. This is known as Valabhī version (vācanā) of the Canons[2].

Unfortunately after redaction of the Canons in these councils, Acārya Skandila and Nāgārjuna could not get an opportunity to

1. Kathāvali. 298 after "Vir Nirvāṇa" etc PP 110 f

2. Cf the Buddist Councils held at Rājagaha, Vesāli and Pāṭaliputra in order to establish a Canon ef the religion and of the discipline of the order, see H Kern, Manual of Indian Buddhism, P. 101 ff The last council was held in rhe reign of King Asoka in the third century B. C

see each other and hence the two different versions of the Canons remained unreconciled So after one hundred and fifty years, in the year 980 (993) of Mahavira's death (i e 513 or 526 A D) another council was convoked at Valabhī under the able presidentship of Devardhigaṇa in which all the important works of the Jains then available were written down[1] In this council, as it has been pointed out, a serious attempt was made to reconcile the different readings of the two versions pertaining to the two councils In cases where reconciliation was not possible, it was thought desirable to note the important variants either in the original Āgamas or in their commentaries In this council however, the entire Jain canonical literature was written down according to the version of the Mathurā council, introducing the important variants generally by the words 'Vāyanāntara puna (according to another version) or 'Nāgārjuniyāstuevam vadanti the disciples of Nāgārjuna say so)[2]

Thus we see that Devardhigani was only a redactor and not the author of the Jain Canons, and the date of compilation of the Āgamas is much earlier than their redaction by Devardhigani To quote Prof Jacobi, 'Devardhi s position relative to the sacred literature af the Jainas appears therefore to us in a different light from what is generally believed to have been He probably arranged the already existing MSS in a Canon, taking down from the mouth of learned theologians only such works of which MSS were not available Of this Canon a great many copies were taken, in order to furnish every seminary with books which had become necessary by the newly introduced change in the method of religious instructions Devardhi s edition of Siddhānta is therefore only a redaction of the sacred books which existed before his time in nearly the same form Any single passage in sacred text may have been introduced by the editor, but the bulk of Siddhānta is certainly not of his making[3] Thus the Canon which Devardhigani compiled, and which has come

1 According to Nemicandra however, the canons were actually written down in the form of books (pustakeṣu nyastam) in the last two councils (yogasastra 3, P 206 a)

2 See Vīra Nirvāṇa etc PP 112 118

3 S B E. vol XXII, P XXXIX also winternitz op cit PP 433 f

down to us is the final result of a literary that must have begun as soon as the organisation of the order in the monastic life were firmly established. This was in all probability the case not long after the death of Mahāvīra. The earliest portion of the Canon may therefore quite possibly belong to the period of the first disciples of Mahāvīra himself, or at the latest to the second century after Mahāvīra's death—the period of Maurya Candragupta, when a council was summoned at Pūṭaliputra.[1]

The Antiquity of the Canons.

The Canonical books of the Jains are important for many reasons. They represent the teachings of Mahāvīra and the ancient historical traditions regarding the religion of the Jainas. The Kalpasūtra, for example, records Mahāvīra's life including his itinerary during his ascetic life, his predecessors, his Ganadharas or heads of the schools and the list of the Patriarchs (Therāvali) together with their Gaṇas, Kulas and Sākhās. The Bhagavatī Sūtra in its different dialogues gives a vivid picture of the life and work of Mahāvīra, his relationship to his disciples and the contemporary kings and princes It contains a presentation of the Jain dogmas in the form of questions and answers between Mahāvīra and his disciple Indrabhūti. The Thāṇāṅga records the names of the eight kings ordained by Mahāvīra and various other important points of antiquity. The Uvāsagadasāo contains chapters on the lives of ten lay-disciples of Mahāvīra and the stories of the Nāyādhammakahāo explaining the teachings of the Lord. Further, The Ācārāṅga, the Sūtrakṛtāṅga and the Uttarādhyayana contain the oldest part of the Canon from linguistic and literary point of view[2]. The last-mentioned Canon consists of valuable poems in the form of beautiful parables and similes, dialogues and ballads after the true manner of the ascetic poetry of ancient India. These poems have their parallels in the Buddhist and the Brahmanic literature and bear striking resemblance to the Jātakas, Dhammapada, Suttanipāta and the Sānti Parva of the

1 Winternitz: op. cit., P. 434 f.

2 See Jacobi · S. B. E. vol. XXII, PP. XL-XLIII; Winternitz; op. cit. P. 431.

Mahābhārata[1] In the Uttarādhyayana we come across the story of king Nimi, one of the Pratejaka Buddhas in the Buddhist legends, in which the ideal of asceticism is preached Then in the legend of Harikesa, the holy man of low caste which bears an exact resemblance to the Mātanga Jātaka Similarly the chapter on Citra and Sambhuta and Isukāra belong to the great cycle of tales of King Brahmadatta, forming remarkable parallels to the Jātakas the Citta sambhūta Jātaka and Hathipāla Jātaka[2] Then the meeting between Kesi, a pupil of Pārsva, and Goyama a pupil of Mahāvīra and their discussion on various points of ancient and contemporary creed throws flood of light on the past history of Jainism and may be considered as a valuable document for the history of ancient Jain tenets[3] The Rāyapasenıya Sutta records a dialogue between Kesī and the King Paesi which reminds us of the Payāsi Sutta of the Digha-Nikāya It records another statement saying that a Brāhmana who had committed certain crimes should be branded with the image of a dog (sunaga) or a kundiya pot on his forehead[4], which coincides with similar statement in Kauṭilya's Arthasāstra[5] This form of punishment as has been remarked by Jarl Charpentier, does not occur in Manu and the later law books where the corporal punishments on Brāhmanas are not permissible, which shows that the Jain Canons must be near to the time of Kauṭilya than that of the later Dharmaśāstras The Rāyapasenıya also contains various architectural and musical terms which are considerably old and are rarely found

1 See Winternitz, ' Some Problems of Indian Literature , the chapter on Ascetic literature in Ancient India also History of Indian Literature II, PP 466 70 Jarl Charpentier Uttara PP 44 ff also Prof A M Ghatge's article A few parallels in Jain & Buddhist

2 A number of verses are also common in early Pāli literature and Ardha māgadhi literature Cf for instance in verse Dhiratthu to jaso-kāmī etc. in the Dasaveyāliya (2 7) with the verse in the Visavanta Jātaka (I No 69) p 311 also the verse kaeammu kujja) etc in the Dasaveyāliya (2 1) with the verse in the Samyutta Nikāya Nandana Vagga Dukkaram p 7

Works in the A B R S. vol. XVII 1036

3 Jarl Charpentier op cit., P 46 f see also Cambridge History of India vol. I ch VI

4 Sū 164 5 cf P 264

elsewhere. Then the Cvavāiya gives a beautiful description of King Kūṇiya and his pilgrimage to lord Mahāvīra in Campā. The Niryāvaliyāo refers to the great battle between Kūṇiya and Ceṭaka when the eighteen confederate kings are stated to have sided with the latter. Lastly the Cheda sūtras belong to the earliest portion of the Canon, prescribing the rules of life and conduct for the monks and nuns and the prescriptions for atonements of sins come across here the rules about the entire discipline of the order, which bear resemblance to the vinaya of the Baddhists[1].

The Brhat Kalpa Sūtra (1,50) states that the monks and nuns may wander towards the east as far as Aṅga-Magadha, towards the south as far as Kosambī, towards the west as far as Thūṇā, towards the north as far as Kuṇālā. This sermon is said to have been given by Mahāvira to his disciples while he sojourned at the the Subhūmibhāga garden at Sāketa, which apparently goes back to an old time when Jainism was in its infancy and existed only in a very limited part of India round about the country of Magadha and a part of United Provinces. As a matter of fact, it was Samprati, who encouraged the propagation of the Jainism throughout the length and breadth of the country after he had come to power Further, the first section of the Bṛhatkalpa Sūtra which prescribes the eating of the broken or unbroken, raw and ripe palm-fruit (tāla) or the root (palamba) for the Jain monks and nuns, leads us to the olden days of terrible famine which visited Magadha and is said to have lasted for a long time, when Bhadrabāhu migrated to Nepala These precepts indicate the hardest days through which the Jain monks and nuns had to pass and how they had to live on raw palm-fruits and roots of the trees for their subsistence. Thus in the Jain Canon there are various traditions, historical or semi-historical presenting the political, administrative, social, economic and geographical conditions, throwing an immense light on ancient history and culture of India, which prove the antiquity of the Canons

(Contd.)

1. Cf. Winternitz, op cit., P. 442.

MANDANA, THE PRIME MINISTER OF MALWA AND HIS WORKS—BETWEEN A D 1400 & 1448

By

P K Gode, M A , Curator B O R Institute, Poona

Two Sanskrit works of Mandana Mantri viz (1) काव्यमण्डन and (2) शृङ्गारमण्डन have been published in the Series called the *Hemacandrācārya Granthāvali*[1] The subject of the काव्यमण्डन (= *KM*) is "कौरवपाण्डवोदयकथा" as stated in the Colophon verses of the 13 *Sargas* of the poem The extent of the *KM* will be gathered from the following table of verses in each *Sarga* —

Sarga		Verses	*Sarga*		Verses
Sarga	I	35 Verses	*Sarga*	VII	41 Verses
,,	II	31 ,,	,,	VIII	90 ,,
,,	III	41 ,,	,,	IX	47 ,,
,,	IV	45 ,,	,,	X	70 ,,
,,	V	38 ,,	,,	XI	52 ,,
,,	VI	50 ,,	,,	XII	75 ,,
			,,	XIII	56 ,,
		240			431

The total number of verses of the *KM* is 671 The author bows to "वीतराग परेश" in the introductory verses[2] He belonged to

---

1 Published by L. B Bhogilal, Secretary, Hemacandracarya Sabhā Pattan (Gujarat) 1920 The *Kāvyamaṇḍana* consists of 75 pages while the *Sṛṅgāramaṇḍana* is only of 12 pages

2 These verses read as follows —

"श्रीमद्धामन्नुमस्तं त्रिभुवनमहितं यत्पदाब्जप्रपुष्ट
ध्यात योगीन्द्रवृन्दै स्वमवविहतय चित्तविश्वस्यकारि ।
निष्य सद्मैसरार्गा विघटितबहुकल्पा तमालं ननानां
मग्नानां भूरि सम्पत्सरसिजुहससुव्रासने वाजहेमिम ॥१॥
परमपरदूपरूप्यापितस्ते यतीन्द्रा
न दधति विपयेषु स्वांगमोगेष्वरोप्याम् ।
मति मर्दमितसम्यक्त्वदृष्टीकृपमेव
स जयति सुरसेव्यो वीतराग परेश ॥२॥

"श्रीमालवंश" and was the son ef वाहड as stated by him in the successive verses of the 13 Sargas, which repeat these details regarding his parentage and lineage. The Colophon of the first Sarga reads as follows :—

"श्रीमद्धन्यजिनेन्द्रनिर्भरनतेः श्रीमालवंशोन्नतेः
श्रीमद्वाहडनन्दनस्य दधतः श्रीमराडनाख्यां कवेः ।
काव्ये कौरवपाराडवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणे
माधुर्यं पृथु काव्यमराडन इते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥"

This verse is repeated at the end of each of the 13 Sargas as already stated by me The references to 'वीतराग परेश" and to "जिनेन्द्र" in the beginning and end of Sarga I respectively show that the author of the *KM* was a Jaina. The work ends as follows :—

Pages 74-75—महाजिनं वृषाधीशं वीतरागं जितस्मरम् ।
सदाशुभसितं वन्दे सर्वदैवतमीश्वरम् ॥५२॥
अव्येतन्मराडपाख्यं प्रथितमरिचमूदुग्रहं दुर्गमुच्चै —
र्यस्मिन्नालमसाहिर्निवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम् ।
यच्छौर्यैरमन्दो प्रवलधरणिभृत्सैन्यवन्याभिपाती
शस्त्रुस्त्रीवाष्पवृष्ट्याऽप्यधिकतरमहो दीप्यते सिच्यमानः ॥५३॥
श्रीमज्झंझणनन्दना हि षडिमे श्रीचाहडो वाहडः
स्तुत्यो देहडसंज्ञकश्च गुणवान् पद्मस्स आह्लदकः ।
लक्ष्मीवानपि पाहुराज इति यो जैनेन्द्रधर्माश्रितः
कोलाभत्तनृपात्तलोकनिवहांस्तेऽमोचयन्धार्मिकाः ॥५४॥
श्रीमद्वाहडनन्दनः समधरोऽभूद्भाग्यवान्सद्गुणो —
स्त्येतस्यावरजो रजोविरहितो भूमराडनं मराडनः ।
श्रीमान्सोनगिरान्वयः खरतर श्रीमालवंशोद्भवः
सोऽकार्षीत्किल काव्यमराडनमिदं विद्वत्कवीन्द्रप्रियः ॥५५॥
श्रीमद्धन्य जिनेन्द्र निर्भनतेः ......सर्गः प द्वादशात् ॥५६॥

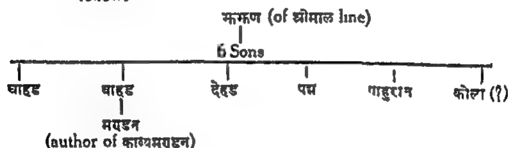
"......लिखितं संवत् १५०४ वर्षे शाके १३६९ प्रवर्त्त ते पष्ठ्यब्दमध्ये श्रीमुखनाम्नि संवत्सरे दक्षिणायने वर्षाऋतौ भाद्रशुदि ५ पञ्चम्यां तिथौ बु ने पुस्तकमलेखि ।"

The above Colophon reveals the following information about the author of the *KM* as recorded by him —

(1) He was the follower of "महाजिन (v 52)

(2) The work *KM* was composed when a king of the name "आलमसाहि' was ruling at "मण्डपदुर्ग" This king was a terror to his enemies (v 53)

(3) The genealogy of the author of the *KM* is given as follows —



(4) The MS of the *KM* on which the present edition is based was copied in *Saṁvat* 1504 or *Śaka 1369=A D 1447-48*

It is clear from the foregoing details that the date of composition of the *KM* is earlier than A D 1448 and that it was composed during the reign of one आलमसाहि king or governor of Malwa with his capital at मण्डपदुर्ग or *Mandu*[1]

---

1 About A D *1408 Alp Khān* son of Dilāwar Khān of Malwa poisoned his father and ascended the throne with the title Sultan Hushang Ghori Muzaffar I of Gujarat captured him but after a year re installed him about A D *1409* (vide *Bombay Gazetteer* Vol. I Pt I (1896) pp 234—235) In A D 1411 and 1418 *Hushang* invaded Gujarat but was repulsed by Ahmad Shah In A.D *1419* Ahmad Shah defeated *Hushang* Shah, who took refuge in the fort of *Mandu*. Ahmad invaded Malwa again in A.D 1422 but could not capture *Mandu*. In the *Rājavinoda* poem (by Udayarāja a court poet of Muhammad Begaḍā) composed between A D *1458 and 1469* we find मण्डपदुर्ग (= *Mandu*) referred to as follows —

"दुर्गं गत्वाहेर धिवासदुर्गमाक्रामता मण्डपमामहेश ।
येनोच्चकैरावहृते करस्य पदे पदे मालवमेदनवी ॥११॥

Vide p 110 of *Bomb Univ Journal* Vol IX Part 2 (Sept. 1940) my paper on राजविनोद.

We now turn to the other work of *Maṇḍana* viz. *Śṛṅgāramaṇḍana* (=*ŚM*). This is a small poem of 108 verses dealing with *Śṛṅgāra-rasa*. It begins :—

"जीयाज्जगत्यत्र जडानुपेतः स कोपि शृङ्गाररसाम्बुराशिः ।
आकण्ठमाचामति नीलकण्ठो यद्गाहने गौर्यधरामृतानि ॥१॥

Verses 100 and 101 of the *ŚM*, which practically conclude the poem read as follows :

"यौवनस्था वनस्था वा सुन्दरी यदि वा दरी ।
रागेण वा विरागेण सेव्यतां सुरतेच्छया ॥१००॥
नैपुण्यार्जितपुण्यपुण्यमतुलः सर्वेन्द्रियार्थोदयः
कन्दर्पकविलासवासवसतिः संसारसारं परम् ।
सा सारङ्गविलोचना विजयते यस्याः परीरम्भणे
योगं कामिजनोऽनुभूय विशदानन्दाद्वयं विन्दति ॥१०१॥

The poem reads some what like the *Śṛṅgāraśataka* of Bhartṛshari and may have been modelled after it.

The following Concluding Colophon is informative like Maṇḍana's Colophon to the *Kāvyamaṇḍana* :—

"नित्योन्नीतोरुधराधरभरविगलद्वारिधाराभिषिक्तः
स श्रीमान्मालवोऽसौ जगति विजयते सर्वनीवृन्नरेन्द्रः ।
सुच्छायौ वैरिवीरव्रजभुजमहसाक्रान्तभूकान्तसेव्यो
यस्मिन्सद्वंशशाली स च किल सकलो मण्डपो दुर्गमास्ते ॥१०२॥
यस्याधीशो विधत्ते प्रणमदवनिभृद्भूरिकोटीरहीर
ऽयोनिराजितांह्रि प्रबलरिपुबलारण्यदावप्रभावः ।
श्रीमानालमसाहि[1] स समररसिको बाणधाराभिवर्षी
चञ्चच्चञ्चुस्तडागानरिनृपसद्दृशामुत्सटाम्भः प्रवाहान् ॥१०३॥

---

1. According to *Imp. Gazet of India* IX, 1886, p. 267, The first Muhammadan King of Malwa was *Dilāwar Khān Ghori* of Afghan origin, who ruled from *1387 to 1403* and placed his Capital at *Maṇḍu* He was succeeded by his son Hoshang Ghori to whom magnificant buildings are attributed. In 1526 the Ghori dynasty came to an end and in 1570 Malwa was added by Akbar to the Mughal dominions

प्राचीनाः प्राक्तचीना अपि कपिकुलवद्दाक्षिणात्या दाक्षात्या
दोर्घ्णो दोर्णामहेन्द्रा विजहति हतिभिर्जर्जरा गूर्जराश्च ।
अन्ये मन्ये न मन्ये चलचलनिलया किं च सर्वेप्यगर्वा
यस्मिन्नालंमसाहिक्षितिभृति विहितप्रस्थितौ दिग्जयार्थम् ॥१०४॥
श्रीमालोत्कुले किलातिविमले जातो यद्वायोमत्र-
न्मन्त्री सोनगिरान्वय श्रीतद्वय श्रीझञ्झणो नाम स ।
भद्रस्तै शिशिरादिकैरिव लसत्सत्पत्तय राजितो
यशो यस्य विभाव्यते स्म भुवने षड्भिस्तनूजन्मभि ॥१०५॥

प्राक्पुण्यकार्मयशोकृतसि धुजेषु
तेषु श्रीतेषु समतामपि धीरधीषु ।
सर्वज्ञसक्षमहस स पुन प्रसाद-
श्छ्रीबाहड समभवद्वहुनागरीयान् ॥१०६॥
श्रीसद्मभुतामितस्य विमलप्राचीनपुण्याचल—
श्रेणीसत्परिम एक उदितो यस्यात्मजो मुण्डन ।
य सारस्वतकाव्यमण्डनकविर्धीरिद्ध यभूभृत्परि—
विद्वानां च यथा रविर्विजयते तीव्रप्रतापैर्भुवि ॥१०७॥

श्रीमद्वंशपद्माम्बुजालिशिरमा धर्मैकध मोरसा
सिद्ध मण्डनपण्डितेन कविना कान्तन तेनामुना ।
श्रीमन्मण्डनमन्त्रकेण कविना ▪ गारभङ्ग्या शत
श्लोकी श्लोक्यतमा समा विरचिता पीयूष पाथोधिना ॥१०८॥
॥इति मण्डनकृत शृङ्गारमण्डन समाप्तम् ॥

सवत् १५०४ वर्षे कार्तिकशुद्ध द्वादश्या शनौ दिने लिखित पण्डित विनायकदास कायस्थेन ॥

The above extract gives us the following particulars about the work and its author —

(1) Verse 102 refers to the king of Malwa (मालवेन्द्र नरेन्द्र) and his Capital मण्डपदुर्ग or the fort of Mandu

(2) The ruler of Malwa then ruling at the above Capital was आलमसाहि (v 103)

(3) आलमसाहि had vanquished in battle the Deccanese (दक्षिणात्या) and the Gujaratis (गूर्जर) (v 104)

(4) झंझण (the grand father of मण्डन) belonged to श्रीमालकुल. He is called "मन्त्री" of "सोनगिरान्वय" as in verse 55 of मण्डनकाव्य. He had Six Sons, whose names are specified in the *Maṇḍana* Kāvya (v. 105)

(5) Of these sons बाहड was an eminent person (v. 106).

(6) His son मण्डन composed (सारस्वतमण्डन and काव्यमण्डन) (v. 107).

(7) मण्डन Composed these 100 verses (शतश्लोकी) bearing on शृङ्गार (v. 108).

(8) The MS was copied in Śaṁvat 1504 (=A.D. 1448) in the month of कार्तिक i.e. after the copying of the MS of काव्यमण्डन in the month of भाद्रपद् of the same year *Śaṁvat 1504*.

As stated in the *ŚM* our author composed his *KM* as well as सारस्वतमण्डन prior to the *ŚM*

Our author मन्त्रिमण्डन should not be confused with मन्त्रिमण्डन the father of अनन्त[1], who composed his कामसमूह in A.D. 1457. अनन्त belonged to भामल्लवंश and resided in अहिम्मदनगर He was a Nāgara Brahmin. His grand father's name was नारायण. The genealogies of the two persons of the name मण्डन are different as will be seen from the following table .—

मण्डन author of *KM* and *ŚM* (resident of Mandu or Malwa)	मण्डन of अहिम्मदनगर
झंझण | बाहड and 5 brothers | मण्डन (MSS of A D. 1448) (contemporary of आलमसाह king of मंडपदुर्ग or Mandu) — of श्रीमालकुल	नारायण (C. A.D. 1400) | मण्डन मन्त्रि (C A D 1430) | (a court physician) अनन्त (A D. 1457—कामसमूह) —a Nāgara Brahmin.

1. Vide my paper on *Kāmasamūha of Ananta* etc. —*Journal of Oriental Research*, Vol XV, Part I.

The exact date of composition of the works *KM* and *ŚM* of our author मण्डन can be determined if we can identify आल्मसाहि the Muslim King of Malwa ruling at Mandu, when Maṇḍana composed his works

It appears that the Muslim rulers of Malwa were patrons of Hindu writers Some of these writers occupied high positions at the court For instance पुञ्जराज[1] the author of the commentary on the सारस्वतप्रक्रिया (C A D 1500) had an uncle of the name मेघ who got the title of मफरल्मलीक from Ghias ud din Khilji of मण्डपदुर्ग Both पुञ्जराज and मेघमन्त्री belonged to the श्रीमालकुल to which our मण्डन belonged as we have seen above The genealogy of पुञ्जराज as given by him goes back to C A D, 1350 and as this family belonged to the श्रीमालकुल we have reason to believe that the line of the family of our मण्डन who is earlier than A D 1448 is most probably related to the श्रीमालकुल of पुञ्जराज of C A D 1500 Unfortunately in पुञ्जराज s genealogy of our मण्डन It is however, certain that the श्रीमालकुल flourished at Mandu or Malwa say between A D 1250 and 1550 and produced men of literary pursuits like मण्डन and पुञ्जराज and ministers like मेघ the uncle of the latter

The *Jain Granthāvali*[2] mentions some MSS of the works of Maṇḍana the author of the *Kavyamaṇḍana* and the *Śṛngāramaṇḍana*. Prof H D Velankar[2] also records some MSS of Maṇḍana s works As these MSS are not accessible to me I am unable to say anything

---

1 Vide my paper in the *Adyar Library Bulletin* (October 1941) Vol V, Part 3

2 *Jain Granthāvali* (p 305 of the Bombay edition of 1909) mentions सारस्वत मंडण as the work of मंडण in 3500 Slokas On p 313 शृंगार मंडन and संगीत मंडन of मण्डनमंत्रि are noted Prof H D Velankar notes the following MSS of Maṇḍana s works in his जिनरत्नकोश—

"काव्य मण्डन—by मण्डन कवि (Gram 1250) Chani 227 PAZB I (24 25 dated *1504*) 23(25 29) Pra 1162

"शृंगार मण्डन—by मण्डन कवि Chani 229 JG p 313 PAZB 23 (2 MS dated *1504*) SA. 815.

"संगीत मण्डन—by मण्डन मंत्रि JG p 313 PAZB 23 (26)

"सारस्वत मण्डन—(Gram 1500) by मण्डन कवि Hamsa 901 JG. p 305 Limdi 585."

about the data contained in these MSS. It often happens that when any work is printed even without any critical introduction scholars cease to pay any attention to it simply because it is published, while even a fragment of an unpublished work is subjected to a searching analysis and its results are published promptly. To a historian of literature, however, any kind of useful data, whether from a published or unpublished source should be valuable, provided it reveals new facts and adds to our knowledge of its historical background.

We have seen above that Mandana calls himself "सारस्वतकाव्य-मण्डनकविः" an epithet which tells us that he was the author of सारस्वत मण्डन and काव्यमण्डन. The B.O.R. Institute possesses two MSS of the सारस्वत मण्डन viz. *No. 675 of 1891-95* and *No 13 of 1877-78* which is dated *Saṁvat 1632 = A D. 1576.* Now let us see what data we get from *MS No. 13 of 1877-78,* which is not only a dated MS but is also a complete one and well preserved. This MS begins :—

"श्रीपरमात्मने नमः ॥"

उद्यत्सांद्रजिनेन्द्रसुन्दरपदद्वंद्वप्रसादोद्भव—
भूद्भूयोभीष्टसमर्थसार्थकजनुः श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः
श्रीसारस्वतमण्डनं रचयति क्ष्मामंडनं मंडनः ॥१॥

The details about the author viz (1) his name मंडन, (2) his father's name बाहड, (3) his खरतर (गच्छ), (4) his lineage called सोनगिरान्वय his (4) Caste श्रीमाल, prove the author of the सारस्वतमंडन to be identical with his namesake मंडन the author of the *KM* and *SM* analysed already in this paper.

On folio 17a we get the following Colophon :—

"सद्यः सांद्रजिनेन्द्रसुन्दरपदद्वंद्वप्रसादोद्भवः
भूयोभीष्टपुमर्थसार्थकजनु श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनागिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः
श्रीसारस्वतमंडनं व्यरचयत् क्ष्मामंडनं मंडनः ॥१॥[1]

---

1. Before this stanza there is an unnumbered stanza which is more correct in *MS No 675 of 1891—95* and reads as follows :—

"सविग्रहाणामुभयेस्वराणामिति प्रकृत्यासहसाहसानां ।
श्रीमंडनः सूत्रविदल्पसाहि महाप्रधानोप्यदधात्सुसंधीन् ॥"

इति श्रीमालमौलिमाणिक्यश्रीमत्सोनगिरगोत्री ... रा तरनाम्नाय मार्ग धर्मधुरंधर श्रीमद्बाहडात्मज-सर्वविद्याविशारद श्रीम मडनसंघपतिप्रणीते सारस्वतमडने सधिप्रकरण समाप्त ॥ॐ॥श्री॥ॐ॥

The MS ends —"जयति जगदाधारो देश स मालवाभिधो—

जयति धजिनसद्म दुर्ग स यत्र च मडप

जयति विजयी यस्याधीशो महालमसाहयो—

जयति मन्ये स्यामात्योऽस्यद्रमाभिध ॥१॥

यस्य भ्रातृषु तातृषु प्रशमिषु श्रीमत्सु धीमत्सु च

शास्त्र शोकमा सम सममवत्सधेश्वरो बाहड ।

यस्योद्दिपितपूर्णचन्द्रमनिजवे सत्सचिवारा महा

पुण्यानां फलमेऽमेव जयति क्ष्मामडन मडन ॥२॥

यत्कीर्ति प्रकृति विलस्य गमने दानोद्रकारोचना—

हकाष्ठानां वृक्षकस्य मंडपतलेदयमालिनेचंकिषा ।

सोय सोनगिरान्वय खरतर श्रीबाहडात्मज

श्रीसारस्वतमडन श्वरजयत्क्ष्मामडन मडन ॥३॥

इष्टदेवता श्रीगुरु प्रीयतां ॥ इति श्रीश्रीमालमौलिमाणिक्य श्रीमत्सोनगिरगोत्रीय खरतरान्वय-मार्ग धर्मधुरंधर श्रीम बाहडात्मज सर्वविद्याविशारदश्रीम मडनप्रणीते सारस्वतमडने कृतकरण समाप्त ॥श्री॥ श्रीस्वस्ति श्रीसवत् १६३२ वर्षे आसो वदि ३ भूमौ प्र पोथ लषित ॥

The data furnished by the above extract is as follows —

(1) Maṇḍana was a Jaina, belonging to सोनगिर खरतरगच्छ He was also संघपति and is styled as "proficient in all sciences (सर्वविद्याविशारद) an epithet justified by his works काव्यमडन, शृङ्गारमडन, सारस्वतमडन and सगीतमडन

(2) He was Chief Minister to a King of Malwa called आलम or अलम ruling at Mandu (मडपदुर्ग) In the सारस्वतमडन he is definitely called "आलमसाहि महाप्रधान" This statement shows that at the time when he composed the सारस्वत मडन he was chief Minister of some आलमशाह of Malwa He composed काव्यमडन perhaps at this time and later his शृङ्गारमडन which refers to both these works

(3) He belonged to श्रीमाल caste His father s name was बाहड, who was also संघेश्वर (or संघपति) like himself

(4) He had a brother called पद्म (or पद्म mentioned in काव्यमंडन as one of these *six* brothers). पद्म is also called अमात्य.

We have now 3 dated MSS of Maṇḍana's works, two of which are dated A.D. *1448*, while the 3rd MS is dated A D. *1576*. Evidently Maṇḍana's date[1] is earlier than A.D. *1448*.

The following table will show at a glance the historical background of Maṇḍana's life :—

A.D. 1387-1405—Dilāwar Khān the first Muhammadan King of Malwa ruled at Mandu.

" *1405-1432*— *Alp Khān* son of Dilāwar Khān ruled at Maṇḍu with the title Sultān *Hoshang Ghori.*

" *1432-1435*—Mohammad Ghori at Malwa.

" *1435-1482*—Mahmud Khilji at Malwa.

" *1448* —Dates of MSS of Maṇḍana's works viz. *Kāvya-maṇḍana* and *Śṛṅgāramaṇḍana.*

" *1576* —Date of B.O R I. MS of *Sārasvatamaṇḍana.*

It will be seen from the above chronology of Malwa rulers that the only ruler with whom अलमसाहि, the patron of Maṇḍana can be identified is *Alp Khān* or Hoshang Ghori (A.D. 1405-1432). If this identification is accepted the literary career of Maṇḍana, the Prime Minister of Hoshang Ghori must be fixed *between A D. 1400* and *1432*. This conclusion harmonizes with the date *A D* 1448, in which year two MSS of Maṇḍana's works were copied by a scribe of the name *Vināyakadāsa Kāyasthā* I hope our Muslim Scholars will try to verify how far my identification of अलमसाहि with *Alpkhān* or *Hoshang Ghori* is correct.

1. Dr. Belvalkar calls पुञ्जराज the earliest commentator of सारस्वत प्रक्रिया (Vide p 96 of his *Systems of Sanskrit Grammar*, Poona, 1915). He assigns पुञ्जराज to A D. 1450 and makes मण्डन posterior to पुञ्जराज (ibid p. 99) This chronology is not warranted by evidence I have already proved that पुञ्जराज flourished about A D. 1500 as his uncle मेघ was minister to Ghias-ud-din Khilji of Malwa who was poisond in A.D. *1501* and whose Hindi inscription is dated A D. *1483*. We have proved in this paper that मण्डन is earlier than A.D. *1448*. Dr. Belvalkar was not evidently aware of the other works of मण्डन or their MSS A MS of हरिवंशपुराण of श्रुतकीर्ति was copied at जेरहट during the reign of सुलतान गयासुद्दीन of मण्डपाचलगढदुर्ग in A D *1497* (Vide p. 153 of प्रशस्ति संग्रह by P. K. Bhujabali Sastri 1942)

THE PURĀNIC AND HISTORICAL REFERENCES IN THE APABHRAṂŚA STANZAS OF HEMACANDRA

By

Prof Sibendranath Ghosal Bangabasi College Calcutta

In the Apabhraṃśa stanzas of the Prākrit grammar of Hemacandra we find there are numerous references to the characters and incidents of the Rāmāyana, Mahābhārata, Purānas and the other ancient literary works of the Hindus Some of these which go back certainly to a very ancient age, can be traced in the Upanishads Brāhmānas, and even the Vedas Other religious sects which were later developed on the soil of India could not deny their influence, they adopted and fashioned them according to their needs, in the mould of their own religious and moral teachings It can be better understood by a concrete example The Buddhists, who could not accept some of the tenets of the Hindu religion, retell the story of the Rāmāyana in their own way, and as a result we find the Dasaratha Jātaka, which is in kernel the same Rāmāyanic story, though there are some important deviations Needless to mention that it is imbibed with a spirit of the gospels of the Buddha and highly instructive in character The advocates of the Hindu religion, which found its most exhaustive expression in the literature, we have mentioned, were very progressive They duly responded to the demands of the time and for this very reason they did never venture to erect any wall of isolation around them and remain exclusively closed to their own world On the contrary, they tried to understand others sympathetically, critically analysed their tenets and embodied them in their own moral and philosophical thoughts were they convinced of their efficacy So it is evident that there were frequent interchanges of thoughts and ideas between the different sects in those days and like the Buddhists the Jainists too, fell back occasionally upon the heritage of Hindu religion and culture This will certainly make it clear, why Hemchandra, a staunch advocate of Jainism, referred to the characters and incidents of the Hindu mythology, while quoting the Apabhraṃśa verses of the poets, who

("The man has a dark complexion, and the fair one (धण्णा = प्रिया) has the complexion of a चम्पक flower; she seems to be a streak of gold on the black touch-stone.")

It should be noted that in the Veda there occurs a word 'rādhas' meaning 'a desired object, a gift'; in the Avestan too, we find 'Rāda' a masculine counterpart of the same Vedic word used in the sense of a 'lover, a desired husband.' So it may be surmised that Rādhā is possibly a female cognate of the same and as a common noun conveys the sense of a "beloved, a desired woman." (vide—Indian linguistics. Vol. VIII part I. p. 38).

In the two following verses we find reference to the incarnation of Vishṇu as Vāmana and his heroic act of sending Balı to the nether world.

वलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डुत्तणउं देहु म मग्गहु केइ । 384.1.

["Even that Madhumathano (God Vishṇu) became a dwarf while begging alms of Bali; if therefore you desire greatness, give (to others) but do not beg of anyone "]

मइं भणिअउ वलिराय तुहुं केहउ मग्गणु एहु ।
जेहु तेहु म वि होइ वढ सइं नारायणु एहु । 402.1.

('Oh king Bali, I told you of what sort this beggar is; he is not an ordinary beggar but नारायण in person.")

It is interesting to note that this episode, which permeates in the entire Sanskrit literature, had an origin in the Rigveda. "त्रेधा विचक्रमे पदम्". There we get a distinct mention of the three strides of Vishṇu which were differently interpreted by the scholars. But that as early as in the days of Sāyana the story of incarnation had evolved is known from his interpretation of the Rigverse, according to which, the three strides are nothing but "the three steps" which were believed to the actually planted by the dwarf to cover the three worlds. In the Taittiriya Saṃhitā occurs—"Indra, assuming the form of a she-jackal stepped all round the earth in three strides Thus the gods obtained it". Hindu classical Dictionary. p. 34. In the Śatapatha Brāhmaṇa we find the story that when the demons were going to distribute the earth after having vanquished the deties,

the latter approached them with Visnu in front and begged them of their share The demons only agreed to part with so much portion of the earth, which could be covered by Vishnu, who was undoubtedly a man of pigmy size The latter laid himself down and after having covered the entire world with his body, forced the demons to retire back from it. It is sure that both the stories of the Taittiriya Samhita and the Śatapathah Brāhmana are connected with the episode of Vishnu's incarnation The story occurs fully in the Harivamśa (261 अध्याय), Ramāyana, Mahābhārata, and the Bhāgavata and is frequently quoted in the different Purānas due to the preeminence of Vishnu in the later period It is excessively amplified in the Vāmana purāṇa as Prof Wilson observes "The Vāmana purānas contain an account of the dwarf incarnation of Vishnu, but it is related by Pulastya to Nārada and extends to but 7000 stanzas" "Purānas' by Wilson In the Vishṇupurāna which is undoubtedly a very ancient work we find only a passing reference to this incident In the second of the two verses, quoted above, 'Nārāyana' has been mentioned The term does not occur in the very ancient work only in the Śatapathah Brāhmana it is referred to for the first time. There he stands for Brahmā as he moved in the water 'As the *waters (nara) were the place of his movement,* he (Brahmā) was called Nārāyana vide (HCI dictionary p 57) In the Purāṇas, however, Nārāyana stands as a synonym of Vishnu *and* is the supreme deity, who is believed to be solely responsible for the cosmic order of the universe So his position in the Purānas is rivalled by none.

The following verse narrates Rāvana's march for fight and is consequently an adoptation from the Rāmāyana

दहमुहु भुवन-भयङ्करु तोसिय-सङ्करु णिग्गउ रहवरि चडियउ।
चउमुहु छमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडियउ ॥ 331]

["The tenfaced demon terrible to the world got into his excellant chariot after having propitiated God शङ्कर, he was fashioned by deities as if by thinking of God Brahmā (who has four faces) and Kārtikeya (who has six) and putting both these deities into one'] Rāvana *is described to* have ten heads in the *Rāmāyana* Hence he is called Dasānana, Dasakantha and Panktigriva But the credit

of explaining in a novel manner how such a fact could be possible is probably due to the poet of the Apabhranṃśa verse, who shows much ingenuity in thinking and possesses an exuberance of fancy and imagination.

The Mahābhārata is referred to in the verse :—

इत्तउ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि।
तो हउँ जानउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ 391.1.

[Having said this much शकुनि stopped; again दुःशासन stoppad having said this much; then I realised that it was हरि (श्रीकृष्ण) who stood before me having said (what he had to say.)]

From a stanza of two lines as these, it is quite impossible to guess which particular event is referred to in it, but since we get here a reference to big talks and bragging of the heroes, the stanza possibly points to some dispute among them, which set their anger ablaze.

The name of the great sage 'Vyāsa' occurs in the verse :—

ब्रासु महारिसि एँउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु।
मायहँ चलन नवन्ताहं दिवि दिवि गङ्गाण्हाणु ॥३९९॥

("Vyāsa the great sage says thus, "If the Veda and the Śāstras are to be regarded authoratative, then those who pay homage to the feet of their mothers, get the merit of bathing in the Ganges everyday.")

Contd.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL XI 1946

Edited by

Prof Hiralal Jain, M A, LL B D Phil
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamata Prasad Jain, M R A S, D L
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS OF THE JAINA ANTIQUARY

VOL. I.

VOL II.



RULES.

1 The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, i.e., in year

2 The inland subscription is Rs 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is *4s 8d* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-8-0

3 Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at once.

6 The journal deals with topics relating to Jaina history geography art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics religion, literature philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to K P Jain, Esq, M R A S, Editor, Jaina Antiquary Aliganj, Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster, and promote the cause of Jainology;—

Prof HIRALAL JAIN, M A' LL.B
Prof A N UPADHYE, M A, D
B. KAMATA PRASAD JAIN, M R A.S.
Pt K BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.
Pt NEMI CHANDRA JAIN SHASTRI, SAHITYARATNA